

# कथा सौरभ



पु.प्र.सोपगद्दी जीकनम

लेखक :

उपाध्याय कनकनगदी

प्रकाशक :

धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन  
निकट दिगम्बर जैन अतिथि भवन, बड़ौत, (मेरठ)

# कथा-सौरभ

— उपाध्याय कनकनन्दी

प्रकाशक:—

धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन  
निकट दिगम्बर जैन अतिथि भवन, बड़ौत (मेरठ)

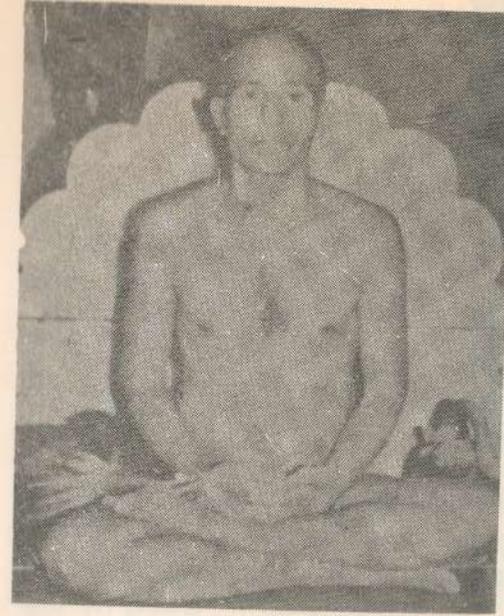
## धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन ग्रन्थांक - 50

### कथा सौरभ

- लेखक :- एलाचार्य, उपाध्याय, कनकनन्दी ।
- आशीर्वाद :- गणधराचार्य श्री कुन्धुसागर जी महाराज
- सहयोगी :- बालाचार्य श्री पद्मनन्दी जी, मुनि श्री कुमार विद्यानन्दी जी, आर्थिका राजश्री माता जी, आर्थिका क्षमाश्री माता जी ।
- सम्पादक मण्डल :- डॉ० (श्रीमती) नीलम जैन (पी. एच. डी.) देहरादून, श्री सुशील चन्द्र जैन (एम. एस.-सी., भौतिकी) बड़ौत, श्री रघुवीर सिंह जैन (एम.एस.-सी., एल.एल.बी.) भूतपूर्व प्रोफेसर, मुजप्परनगर, श्री प्रभात कुमार जैन (एम.एस.-सी., रसायन प्रवक्ता), मुजप्परनगर ।
- अध्यक्ष :- श्री प्रेमचन्द मित्तल (एम. ए.) बड़ौत (मेरठ)  
फोन: घर- 2309, ऑफिस - 2531.
- मंत्री :- श्री सुदेश कुमार जैन (एम. ए.) बड़ौत ।
- कोषाध्यक्ष :- श्री अनिल कुमार जैन (बी. ए.) बड़ौत ।
- प्रचार मंत्री :- कु. संगीता जैन (एम. कॉम., बी. एड.) बड़ौत ।
- प्रकाशन संयोजक :- श्री योगेश चन्द्र जैन, प्रैसीडेण्ट प्रेस, मेरठ कैंन्ट ।
- प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :- धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन ।
- कार्यालय :- निकट दिगम्बर जैन अतिथि भवन, बड़ौत (मेरठ)।  
सर्वाधिकार सुरक्षित लेखकाधीन
- प्रथम संस्करण :- 1991 प्रतियाँ :- 1100 मूल्य :- मात्र 15.00 रु.
- टाइप सैटिंग :- प्रीति कम्प्यूटर कम्पोजिंग मीडिया, 22, होली मौहल्ला (भैरो मंदिर के सामने), मेरठ शहर ।
- मुद्रक :- प्रैसीडेण्ट प्रेस, (ऑफसेट डिजीजन), 90, विवेकानन्द पथ, मेरठ कैंन्ट ।  
फोन:- 76708, 73143.

श्री आदीश कुमार जैन, जैन भवन पाडा मौहल्ला, रोहतक व श्री मदन लाल बटला, भारत ग्लास कम्पनी, रोहतक ने इस पुस्तक प्रकाशन में आंशिक अर्थ सहयोग दिया, इनके प्रति हम आभारी हैं ।

—अध्यक्ष

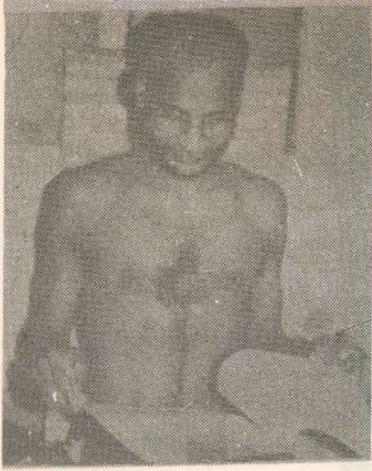


“आशीर्वाद”

अभी आपके पास कथा सौरभ पुस्तक आ रही है। सत्-कथाओं का प्रभाव मनुष्य के ऊपर बहुत ही पड़ता है। कथा बन-बनाया हुआ रसगुल्ला के समान है। सिद्धान्त को समझना सामान्य व्यक्ति के लिए कष्ट साध्य है। परन्तु कथा के माध्यम से सिद्धान्त को समझना सहज-सरल हो जाता है। इसलिए उपाध्याय कनकनन्दी ने 45-50 वैज्ञानिक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक पुस्तकों की रचना के बाद कथा-साहित्य का संस्करण कर रहे हैं जिससे सामान्य व्यक्ति भी लाभान्वित हो सके। अभी तक प्रकाशित कनक नन्दी की शोधपूर्ण कृतियाँ विशेष करके बुद्धिजीवी वर्ग में एक वैचारिक-क्रान्ति ही ले आयी हैं, इन पुस्तकों से जैन, अजैन, देश, विदेश के व्यक्ति लाभान्वित हो रहे हैं।

अभी पुस्तकों का प्रकाशन तो बहुत हो रहा है परन्तु सत्-साहित्य का बहुत ही कम हो रहा है। जहाँ सत्-साहित्य मनुष्य के लिए अमृत-तुल्य है वहाँ असत्-साहित्य विष-तुल्य है। अतः विवेकी व्यक्तियों को सत्-साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। पुस्तक लिखने में सहायता करने वाले, छपाने वाले, तथा 'धर्मदर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन' बड़ौत (मेरठ) के कार्य-कर्ताओं को मेरा बहुत-बहुत आशीर्वाद ।

— ५० आ० कुन्धुसागर



## कथा की कथा

मनुष्य एक अनुकरण प्रिय प्राणी है। दूसरों के आचरण से मनुष्य शीघ्र अधिक शिक्षा प्राप्त कर लेता है। धार्मिक सिद्धान्त से धार्मिक व्यक्तियों के आचरण दूसरों के लिए अधिक प्रभावशाली शिक्षाप्रद होता है क्योंकि सिद्धान्त को प्रायोगिक रूप से क्रियान्वित, महापुरुष करते हैं। नीतिकारों ने कहा भी है—

यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तप्रदेवेत्तरो जनः ।  
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

जो-जो आचरण श्रेष्ठ महापुरुष करते हैं, वे-वे आचरण अन्य जन अनुकरण करते हैं। महापुरुष जिसको प्रमाणित करते हैं, समाज के सामने आदर्श प्रस्तुत करते हैं। लोग उसका अनुकरण करते हैं। व्यासदेव ने विश्व के महाकाव्य महाभारत में कहा भी है—

“महाजनो येन गता सः पंथाः ।”

महामानव जिस मार्ग पर अपने दृढ़ उन्नतिशील पद को धारण करके आगे बढ़ते हैं, वही मार्ग दूसरों के लिए आदरणीय-अनुकरणीय, आदर्श पथ (मार्ग) बन जाता है अर्थात् महापुरुष दीप-स्तम्भ के समान स्वयं को प्रकाशित करने के साथ-साथ दूसरों को भी प्रकाश प्रदान करते हैं। इसीलिए एक कवि ने कहा है—

चलते-चलते राह है, बढ़ते-बढ़ते ज्ञान ।  
तपते-तपते सूर्य है, महापुरुष महान् ॥

प्रत्येक धर्म, राष्ट्र, समाज, पंथ, सम्प्रदाय, राजनीति आदि में कुछ महापुरुष होते हैं जिनके कारण उस धर्म, राष्ट्र आदि की सर्वांगीण उन्नति होती है। वे महापुरुष अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण स्व के साथ-साथ दूसरों का भी कल्याण करते हैं। उनका जीवन इतना प्रतिभावन, अनुकरणीय प्रेरणाप्रद होता है जिसके कारण उनके जीवित रहते ही या उनकी मृत्यु के उपरान्त अन्य कवि, लेखक उनकी जीवन-गाथा को लिपीबद्ध करके युग-युगान्तर की मानव-चेतना को आलोकित करने का प्रयास करते हैं। इनकी पवित्र चरित्र गाथा ही प्रथमानुयोग / इतिहास / पुराण/ धर्म कथा इतिवृत्त/ चरित्र आदि से अभिहित किया जाता है।

प्रत्येक धर्म आदि के प्रचारक, संस्थापक उन्नायक आदि की जीवन गाथा लिपीबद्ध की गई है क्योंकि साधारण मानव जीवन गाथा को सरल-सहज रूप से बोधगम्य करके कुछ प्रेरणा प्राप्त

करके जीवन को सुधारते हैं। एक मराठी कवि ने कहा भी है—

महापुरुष होऊन गेले त्यांचे चरित्र पहा जरा ।  
आपण त्यांचे समान ह्यावे यांचे सापडे बोध खरा ॥

अनेक महामानव इस धरती पर हो गए हैं, उनके चरित्र के अवलोकन-अध्ययन से हम भी उनके जैसे बनें, इसमें ही यथार्थ सारभूत ज्ञान है अर्थात् उनका चरित्र अध्ययन करके उनके सदृश होना ही मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

कथायें सामान्यतया तीन प्रकार की होती हैं।—

1. अकथा 2. कथा 3. विकथा

1. **अकथा**—मिथ्यात्व कर्म के उदय से अज्ञानी जीव जिस रागद्वेष से सहित संसार वर्द्धक कथा का निरूपण जीव करते हैं व सुनते हैं उसे अकथा कहते हैं।

2. **कथा**—रत्नत्रय, अहिंसा, संयम, तप आदि से पवित्र महापुरुष स्व-पर कल्याण के लिए जिस कथा का निरूपण जीव करते हैं या सुनते हैं उसे ही सत्कथा, धर्मकथा कहते हैं।

3. **विकथा**—क्रोध, मान, माया, लोभ से प्रेरित होकर जो कथा का प्रणयन करते हैं या सुनते हैं उसे विकथा कहते हैं। यह विकथा 4 प्रकार की हैं। I. राष्ट्र कथा II. स्त्री कथा III. भोजन कथा IV. चोर कथा।

I. **राष्ट्र कथा**—ईर्ष्या, द्वेष, मार्सर भाव से सहित जो राष्ट्र या राजा की कथा करते हैं या सुनते हैं उसे राष्ट्र कथा कहते हैं। जैसे—राष्ट्र के राजनीतिज्ञ दल, अन्य राजनीतिज्ञ दल की निन्दा भर्त्सना करते हैं।

II. **स्त्री कथा**—काम विकार से सहित होकर काम उद्दीपक कथा कहना या सुनना स्त्री कथा है। जैसे—अश्लील सिनेमा, स्त्री सम्बन्धी कथा करना।

III. **भोजन कथा**—भोजन में आसक्त होकर कहना या सुनना उसे भोजन कथा कहते हैं। जैसे—आज बहुत स्वादिष्ट भोजन मिला, बहुत मजा आ गया, ऐसा ही भोजन रोज मिलना चाहिए या आज ऐसा भोजन नहीं मिला जो कल मिला था।

IV. **चोर कथा**—रागद्वेष से सहित होकर चोर-डाकू, जेबकतरें, ठग आदि की चर्चा करना, सुनना, तत्सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ना, उससे सम्बन्धित सिनेमा देखना आदि चोर कथा है।

दशवैकालिक में वर्ण्यविषय की दृष्टि से कथाओं के चार भेद किए गए हैं— अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रित कथा।

अत्यकथा कामकथा धम्मकथा चैव मीसिया य कहा ।

एतो एककेक्कावि य गेगविहा होइ नायण्वा ॥ दश. गा. 188 पृ० 212 ॥

अर्थकथा—विद्या शिल्प उपाय-प्रयास-अर्थार्जन के लिए किया गया प्रयास, निर्वेद-संचय, साम, दंड और भेद का जिसमें कवि हो या जिसमें ये विषय अनुमति या व्यंग्य हों वह अर्थकथा है।

विज्जासिप्पमुवाओ अणिवेओ संचओ य दक्खंतं ।

साम दंडो भेओ उवप्पयाणं च अत्यकथा ॥ दश. गा. 189 पृ० 212 ॥

कामकथा—रूप-सौन्दर्य अवस्था-युवावस्था देश दाक्षिण्य आदि विषयों की तथा काल की शिक्षा का दृष्टि क्षुत अनुभूत और संयम परिचय प्रकट करना कामकथा है।

रूपं वओ य वेसो दक्खत्त सिक्खियं च विसयेसु ।  
दिट्ठं सुयमणुभूयं च संथवो चैव कामकहा ॥

**धर्मकथा**—जिसमें क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, आकिंचन, ब्रह्मचर्य अणुव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोधोपवास, भोग-परिभोग, अतिथि संविभाग, अनुकम्पा और अकामनिर्जरा के साधनों का बहुलता से वर्णन हो, वह धर्म कथा है।

धर्मकथा के भेदधर्मकथा के चार भेद हैं—आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेगिनी और निर्वेदनी।

**आक्षेपिणी**—आक्षेपिणी कथा में चार बातें आती हैं—आचार, व्यवहार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद। आचार के अंतर्गत लोक व्यवहार मुनि और गृहस्थों के रहन-सहन, सदाचार मार्ग आदि परिगणित हैं। व्यवहार के अंतर्गत प्रायश्चित्त दोषों का परिमार्जन भूलने और प्रसादों के लिए पश्चाताप आदि हैं। प्रज्ञप्ति में संशयापन्न व्यक्ति के संशय को मधुर वचनों के द्वारा निरूपण करना दुःखी और पीड़ित व्यक्ति को सान्त्वना देना, विपरीत आचरण वाले के लिए मध्यस्थ भाव रखना समस्त प्राणियों के साथ मित्रता का व्यवहार परिगणित हैं।

दृष्टिवाद में श्रोता की अपेक्षा सूक्ष्म, गूढ़ और हृदयग्राही भाव एवं संवेदनाओं का निरूपण करना अभिप्रेत है।

**विक्षेपिणी कथा**—विक्षेपिणी कथा के चार भेद हैं—

1. स्वशास्त्र का कथन कर परशास्त्र का कथन करना। 2. परशास्त्र का निरूपण कर स्वशास्त्र का कथन करना। 3. मिथ्यात्व कहकर सम्यक्त्व का कथन करना। 4. सम्यक्त्व का कथन कर मिथ्यात्व का विवेचन करना।

**संवेगिनी**—वैराग्यवर्द्धक कथायें।

**निर्वेदनी**—निर्वेदनी कथा में संसारिक सुख-दुख से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी बातें तथ्य रूप में अंकित की जाती हैं, जिनका प्रभाव पूर्णतया निर्वेद-आसक्ति त्याग के लिए होता है।

**मिश्रित कथा**—अर्थकथा, कामकथा और धर्मकथा इन तीनों का इसमें मिश्रण पाया जाता है। हरिभद्र सूरि ने इसे उदाहरण, हेतु और कारणों से समर्थित माना है।

पात्रों के आधार पर कथायें तीन भागों में विभाजित हैं—1. दिव्य 2. मनुष्य और 3. दिव्यमानुष।

भाषा के आधार पर कथायें तीन प्रकार की होती हैं।—1. संस्कृत 2. प्राकृत और 3. मिश्र।

सथापत्य के आधार पर उद्योतन सूरि ने कथाओं के पाँच भेद किए हैं।—  
1. सकलकथा 2. खण्डकथा 3. उल्लाप कथा 4. परिहास कथा और 5. संकीर्ण कथा।

**सकल कथा**—जिसके अंत में समस्त फलों-अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाये, ऐसी घटना का वर्णन सकल कथा में होता है। सकलकथा की शैली महाकाव्य की होती है। श्रृंगार, वीर और शांत रसों में से किसी एक रस का प्राधान्य होता है। यद्यपि अंग रूप में सभी रस निरूपित रहते हैं। नायक कोई अत्यन्त पुण्यात्मा, सहनशील और आदर्शचरित वाला व्यक्ति होता है। इसमें नायक के साथ प्रतिनायक का भी नियोजन रहता है तथा प्रतिनायक अपने क्रियाकलापों से सर्वदा नायक को कष्ट देता है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कार अत्यन्त सशक्त होते हैं।

**खण्ड कथा**—जिसका मुख्य इतिवृत्त रचना के मध्य में या अंत के समीप लिखा जाये, उसे खण्ड कथा कहते हैं। खण्ड कथा की कथावस्तु छोटी होती है। जीवन का लघु चित्र ही उपस्थित किया जाता है।

**उल्लाप कथा**—ये एक प्रकार की साहसिक कथायें हैं, जिनमें समुद्र यात्रा या साहसपूर्वक किए गये कार्यों का निरूपण रहता है। इसमें असम्भव और दुर्घट कार्यों की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। उल्लाप कथा का उद्देश्य नायक के महत्वपूर्ण कार्यों को उपस्थित कर पाठक को नायक के चरित्र की ओर ले जाना है। इसकी शैली वैदर्भी रहती है। छोटी-छोटी ललित पदावली में कथा लिखी जाती है।

**परिहास कथा**—यह हास्य व्यंग्यात्मकता का सृजन करने में सहायक होती है।

**संकीर्ण कथा**—इन कथाओं की शैली वैदर्भी होती है तथा इनमें अनेक तत्वों का मिश्रण होने से जनमानस को अनुरंजित करने की अधिक क्षमता होती है। मिश्र कथा गद्य-पद्य मिश्रित शैली में ही लिखी जाती है। उपदेश को मध्य में इस प्रकार निहित किया जाता है, जिससे पाठक के मन में जिज्ञासावृत्ति उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है।

(आराधना कथा प्रबन्ध - पृ० 10)

समन्तभद्र स्वामी ने प्रथमानुयोग (इतिहास, पुराण, सत्कथा) की परिभाषा, विषय वस्तु तथा उपादेयता का वर्णन करते हुए कहा है—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।

बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥ (2) ॥ (पृ० 7)

जिसमें एक पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली कथा होती है उसे चरित कहते हैं और जिसमें त्रेसठ शलाकापुरुषों से सम्बन्ध रखने वाली कथा होती है उसे पुराण कहते हैं। चरित और पुराण दोनों ही प्रथमानुयोग शब्द से कहे जाते हैं। यह प्रथमानुयोग उपन्यास की तरह कल्पित अर्थ का वर्णन न कर परमार्थ विषय का वर्णन करता है इसलिए इसे अर्थाख्यान कहते हैं। इसके पढ़ने और सुनने वाले जीवों को पुण्य बंध होता है इसलिए इसे पुण्य कहते हैं। इसके सिवाय यह प्रथमानुयोग बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति और समाधि अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ध्यान की प्राप्ति का निधन है। सम्यग्ज्ञान ऐसे प्रथमानुयोग को जानता है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक में पं. टोडरमल ने भी प्रायः उपरोक्त का ही समर्थन किया है। यथा—

प्रथमानुयोग विषै तो संसार की विचित्रता पुण्य-पाप का फल, महंत पुरुषनि की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण करि जीवनिकों धर्मविषै लगाए हैं। जे जीव तुच्छबुद्धि होंय, ते भी तिसकरि धर्म सम्मुख हो हैं, जातैं वे जीव सूक्ष्मनिरूपणको पहिचानैं नाहीं। लौकिक वार्तानिकों जानैं। जहाँ जिनका उपयोग लागै। बहुरि प्रथमानुयोग विषै लौकिक प्रवृत्ति ही निरूपण होय ताकों ते मौकैं समझि जाय। बहुरि लौकविषै तो राजादिक की कथानिविषै पाप का पोषण हो हैं। तहाँ महन्त पुरुष राजादिक तिनकी कथा तो हैं परन्तु प्रयोजन जहाँ तहाँ पाप को छुडाय धर्मविषै लगावने का प्रगट करै है। तातैं ते जीव कथानिके लालचकरि तो तिसकों बाचैं सुनै, पीछे पाप को बुरा धर्मकों भला धर्मविषै रूचिवन्त हो है। ऐसे तुच्छ बुद्धिनि के समझावने को यह अनुयोग है। 'प्रथम' कहिए 'अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि' जिनके अर्थ जो अनुयोग सो प्रथमानुयोग है। प्रथम मिथ्यादृष्टि-वृत्तिकमव्युत्पन्न वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तोऽनुयोगोऽधिकारः प्रथमानुयोग (जी. प्र. टी. गा. 361-2) ऐसा अर्थ गोमटसार की टीकाविषै किया है। बहुरि जिन जीवनिके तत्वज्ञान भया होय, पीछै इस प्रथमानुयोगको बाचैं सुनैं, तो तिनको यह तिसका उदाहरण रूप भासै है। जैसे जीव अनादिनिधन है, शरीरादिक संयोगी पदार्थ हैं, ऐसै यह जानैं था। बहुरि पुराणनिविषै जीवनिके भवांतर निरूपण किए, ते तिस जानने के उदाहरण भए। बहुरि शुभ-अशुभ शुद्धोपयोगको जानैं था वा तिनके

फलकों जान था। बहुरि पुराणविष तिन उपयोगनिकी प्रवृत्ति अर तिनका फल जीवनि भया, सो निरुपण किया। सो ही तिस जानने का उदाहरण भया। ऐसैं ही अन्य जानना। यहाँ उदाहरण का अर्थ यह जो जैसे जानें था तेसैं ही तहाँ कोई जीवके अवस्था भई तातैं यह तिस जानने की साखि भई। बहुरि जैसे कोई सुभट है, सो सुभटनिकी प्रशंसा अर कायरनिकी निन्दा जाविषै होय, ऐसी कोई पुराणपुरुषनिकी कथा सुननेकरि सुभटपनाविषैं अति उत्साहवान् हो है। तैसेँ धर्मात्मा है, सो धर्मात्मानिकी प्रशंसा अर पापीनिकी निन्दा जाविषैं होय, ऐसे कोई पुराणपुरुषनिकी कथा सुननेकरि धर्मविषैं अति उत्साहवान् हो है। ऐसैं यह प्रथमानुयोगका प्रयोजन जानना।

(मोक्षमार्ग-प्रकाशक, पृष्ठ 325-326)

आचार्य जिनसेन ने प्रथमानुयोग को धर्मकथा, सत्कथा, इतिहास, पुराण आदि से अभिहित करते हुये उसकी प्रामाणिकता, प्राथमिकता आदि का वर्णन अति सुन्दर पद्धति से किया है। यथा—

पुरातनं पुराणं स्यात् तन्महम्महदाश्रयात्।

महद्भिरुपदिष्टत्वात् महोश्रेयोऽनुशासनात्। (21)।

यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है, इसलिए पुराण कहलाता है। इसमें महापुरुषों का वर्णन किया गया है अथवा तीर्थकर आदि महापुरुषों ने इसका उपदेश दिया है अथवा इसके पढ़ने से महान् कल्याण की प्राप्ति होती है इसलिए इसे महापुराण कहते हैं।

महापुरुषसंबन्धि महाभ्युदयशासनम्।

महापुराणामानातमत एतन्महर्षिभिः। (23)।

यह पुराण महापुरुषों से सम्बन्ध रखने वाला है तथा महान् अभ्युदय-स्वर्ग मोक्षादि कल्याणों का कारण है इसलिए महर्षि लोग इसे महापुराण मानते हैं।

ऋषिप्रणीतमाषं स्यात् सूक्तं सूनृतशासनात्।

धर्मानुशासनाच्छेदं धर्मशास्त्रमिति स्मृतम्। (24)।

इतिहास इतीष्टं तद् इतिहासीदिति श्रुतेः।

इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नयं चामनन्ति तत्। (25)।

यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होने के कारण आर्ष, सत्यार्थ का निरूपक होने से सूक्त तथा धर्म का प्ररूपक होने के कारण धर्मशास्त्र माना जाता है। 'इति इह आसीत्' यहाँ ऐसा हुआ-ऐसी अनेक कथाओं का इसमें निरूपण होने से ऋषिगण इसे 'इतिहास', 'इतिवृत्त' और 'ऐतिहा' भी मानते हैं।

महापुराणसंबन्धि महानायकगोचरम्।

त्रिवर्गफलसंदर्भं महाकाव्यं तदिष्यते। (99)।

जो प्राचीनकाल के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला हो, जिसमें तीर्थकर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के चरित्र का चित्रण किया गया हो तथा जो धर्म, अर्थ और काम के फल को दिखाने वाला हो उसे महाकाव्य कहते हैं।

त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः।

येषां धर्मकथाङ्गत्वं भारती प्रतिपद्यते। (62)।

संसार में वे ही पुरुष कवि हैं और वे ही चतुर हैं जिनकी वाणी धर्मकथा के अंगपने को

प्राप्त होती है अर्थात् जो अपनी वाणी-द्वारा धर्मकथा की रचना करते हैं।

धर्मानुबन्धिनी या स्यात् कविता सैव शस्यते।

शेषा पापास्त्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते। (63)।

कविता भी वही प्रशंसनीय समझी जाती है जो धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखती है। धर्मशास्त्र के सम्बन्ध से रहित कविता मनोहर होने पर भी मात्र पापास्त्र के लिए होती है।

केचिन्मिथ्यादृशः काव्यं ग्रथन्ति श्रुतिपेशलम्।

तत्त्वधर्मानुबन्धित्वात् सत्तां प्रीणनक्षमम् ॥ (64) ॥

कितने ही मिथ्यादृष्टि कानों को प्रिय लगने वाले मनोहर काव्यग्रन्थों की रचना करते हैं, परन्तु उनके वे काव्य अधर्मानुबन्धी होने से धर्मशास्त्र निरूपक न होने से सज्जनों को संतुष्ट नहीं कर सकते।

रविषेण आचार्य ने भी जैन रामायण (पद्यपुराण) में सत् कथा का महत्व, लाभ आदि का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

विशिष्टचिन्तयायात यच्च श्रेयः क्षणान्महत्।

तैर्नैव रक्षिता याता चारुतां मम भारती ॥ (22) ॥

विशिष्ट पुरुषों के चिन्तन से तत्काल जो महान् पुण्य प्राप्त होता है, उसी के द्वारा रक्षित होकर मेरी वाणी सुन्दरता को प्राप्त हुई है।

व्यक्ताकारादिवर्णा वाग् लम्बिता या न सत्यकथाम्।

सा तस्य निष्फला जन्तोः पापादानाय केवलम् ॥ (23) ॥

जिस पुरुष की वाणी में अकार आदि अक्षर तो व्यक्त हैं, पर जो सत्पुरुषों की कथा को प्राप्त नहीं करायी गई है, उसकी वह वाणी निष्फल है और केवल पाप-संचय का ही कारण है।

वृद्धिं व्रजति विज्ञानं यश्छरति निर्मलम्।

प्रयाति दुरितं दूरं महापुरुषकीर्तनात् ॥ (24) ॥

महापुरुषों का कीर्तन करने से विज्ञान वृद्धि को प्राप्त होता है, निर्मल यश फैलता है और पाप दूर चला जाता है।

अल्पकालमिदं जन्तोः शरीरं रोगनिर्भरम्।

यशस्तु सत्कथाजन्म यावच्चन्द्रार्कतारकम् ॥ (25) ॥

जीवों का यह शरीर रोगों से भरा हुआ है तथा अल्पकाल तक ही उठरने वाला है। परन्तु सत्पुरुषों की कथा से जो यश उत्पन्न होता है, वह जब तक सूर्य, चन्द्रमा और तारे रहेंगे, तब तक रहता है।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पुरुषेणात्मवेदिना।

शरीरं स्थास्तु कर्त्तव्यं महापुरुषकीर्तनम् ॥ (26) ॥

इसलिए आत्मज्ञानी पुरुष को सब प्रकार का प्रयत्न कर महापुरुषों के कीर्तन से अपना शरीर स्थायी बनाना चाहिए अर्थात् यश प्राप्त करना चाहिए।

लोकद्वयफलं तेन लब्धं भवति जन्तुना।

यो विद्यते कथां रम्यां सज्जानन्ददायिनीम् ॥ (27) ॥

जो मनुष्य सज्जनों को आनन्द देने वाली मनोहारिणी कथा करता है वह दोनों लोकों का फल प्राप्त कर लेता है ।

सत्कथाश्रवणौ यौ च श्रवणौ तौ मतौ मम ।

अन्यौ विदूषकस्येव श्रवणाकारधारिणौ ॥(28) ॥

मनुष्य के जो कान सत्पुरुषों की कथा का श्रवण करते हैं मैं उन्हें ही कान मानता हूँ बाकी तो विदूषक के कानों के समान केवल कानों का आकार ही धारण करते हैं ।

सञ्ज्ञेष्टावर्णना वर्णा घूर्णन्ते यत्र मूर्धनि ।

अयं मूर्द्धाऽन्यमूर्द्धा तु नालिकेरकरङ्कवत् ॥(29) ॥

सत्पुरुषों की चेष्टा को वर्णन करने वाले वर्ण-अक्षर जिस मस्तक में घूमते हैं वही वास्तव में मस्तक है बाकी तो नारियल के करं-कड़े आवरण के समान हैं ।

सत्कीर्तनसुधास्वादसक्तं च रसनं स्मृतम् ।

अन्यञ्च दुर्वचोधारं कृपाणदुहितुः फलम् ॥(30) ॥

जो जिह्वा सत्पुरुषों के कीर्तन रूपी अमृत का आस्वाद लेने में लीन है मैं उन्हें ही जिह्वा मानता हूँ बाकी तो दुर्वचनों को कहने वाली छुरी का मानो फलक ही है ।

श्रेष्ठावोष्ठौ च तावेव तौ सुकीर्तनवर्तिनौ ।

न शम्बूकास्यसंभुक्तजलौकापृष्ठं संनिभौ ॥(31) ॥

श्रेष्ठ ओंठ वे ही हैं जो कि सत्पुरुषों का कीर्तन करने में लगे रहते हैं बाकी तो शम्बूक नामक जन्तु के मुख से भुक्त जोंक के पृष्ठ के समान ही हैं ।

दन्तास्त एव ये शान्तकथासंगमरञ्जितः ।

शेषाः सञ्ज्ञेष्मनिर्वाणद्वारबन्धाय केवलम् ॥(32) ॥

दाँत वही हैं जो शान्त पुरुषों की कथा के समागम से सदा रंजित रहते हैं—उसी में लगे रहते हैं बाकी तो कफ निकालने के द्वार को रोकने वाले मानो आवरण ही हैं ।

मुखं श्रेयः परिप्राप्तेर्मुखं मुख्यकथारतम् ।

अन्यन्तु मलसंपूर्णं दन्तकीटाकुलं विलम् ॥(33) ॥

मुख वही है जो कल्याण की प्राप्ति का प्रमुख कारण है और श्रेष्ठ पुरुषों की कथा कहने में सदा अनुरक्त रहता है बाकी तो मल से भरा एवं दन्तरूपी कीड़ों से व्याप्त मानों गड्ढा ही है ।

वदिता योऽथवा श्रोता श्रेयसां वचसां नरः ।

पुमान् स एव शेषस्तु शिल्पिकल्पितकायवत् ॥(34) ॥

जो मनुष्य कल्याणकारी वचनों को कहता है अथवा सुनता है वास्तव में वही मनुष्य है बाकी तो शिल्पकार के द्वारा बनाये हुए मनुष्य के पुतले के समान हैं ।

गुणदोषसमाहारे गुणान् गृह्णन्ति साधवः ।

क्षीरवारिसमाहारे हंसः क्षीरमिवाखिलम् ॥(35) ॥

जिस प्रकार और पानी के समूह में-से हंस समस्त दूध को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार सत्पुरुष गुण और दोषों के समूह में से गुणों को ही ग्रहण करते हैं ।

सत्कथाश्रवणाद् यञ्च सुखं संपद्यते नृणाम् ।

कृतिनां स्वार्थ एवासौ पुण्योपार्जनकारणम् ॥(40) ॥

उत्तम कथा के सुनने से मनुष्यों को जो सुख उत्पन्न होता है वही बुद्धिमान् मनुष्यों का स्वार्थ-आत्मप्रयोजन कहलाता है तथा यही पुण्योपार्जन का कारण होता है ।

(पद्मपुराणम्- पृष्ठ 3-4)

आदि पुराण के प्रारम्भ आचार्य जिनसेन ने भी धर्मकथा के बारे में बहुत ही सुन्दर प्रकाश डालते हुए कहा है—

विस्तीर्णनिकशाखाढयां सच्छायां फलशालिनीम् ।

आर्यैर्निषेवितां रम्यां रतीं कल्पलतामिव ॥(108) ॥

प्रसन्नामतिगम्भीरां निर्मलां सुखशीतलाम् ।

निर्वापित जगन्तापां महतीं सरसीमिव ॥(109) ॥

गुरुप्रवाहसंभूतिमपङ्कजं तापविच्छिदम् ।

कृतावतारां कृतिभिः पुण्यां व्योमापगामिव ॥(110) ॥

चेतः प्रसादजननीं कृत मङ्गलसंग्रहाम् ।

क्रोडीकृतजगद्बिम्बां हसन्तीं दर्पणाश्रियम् ॥(111) ॥

कल्पाङ्घ्रिपादिवोत्तुङ्गाभीष्टफलदायिनः ।

महाशाखापिवोदसां श्रुतस्कन्धादुपाहताम् ॥(112) ॥

प्रथमस्यानुयोगस्य गम्भीरस्योदधेरपि ।

वेलापिव बृहद्धानां प्रसुतार्थमहाजलाम् ॥(113) ॥

आशिक्षताशेषतन्त्रार्थां विक्षिप्तपरशासनाम् ।

सतां संवेगजननीं निर्वेदरसबुद्धिणीम् ॥(114) ॥

अद्भुतार्थामिमां दिव्यां परमार्थबृहत्कथाम् ।

लम्बैरने कैः संद्वेष्यां गुणाढ्यैः पूर्वसूरिभिः ॥(115) ॥

यशः श्रेयस्करी पुण्यां भुक्तिमुक्तिफलप्रदाम् ।

पूर्वानुपूर्वीमाश्रित्य वक्ष्ये श्रृणुत सज्जनाः ॥(116) ॥

नवभिः कुलकम्

जो धर्मकथा कल्पलता के समान, फैली हुई अनेक शाखाओं (डालियों, कथा-उपकथाओं) से सहित है, छाया (अनातप, कांति नामक गुण) से युक्त है, फलों (मधुर फल, स्वर्ग मोक्षादि की प्राप्ति) से शोभायमान है, आर्यों (भोगभूमिज मनुष्य, श्रेष्ठ पुरुषों) द्वारा सेवित है, मनोहर है और उत्तम है । अथवा जो धर्म-कथा बड़े सरोवर के समान प्रसन्न (स्वच्छ, प्रसाद गुण से सहित) है, अत्यन्त गम्भीर (अगाध, गूढ़ अर्थ से युक्त) है, निर्मल (कीचड़ आदि से रहित, दुःश्रवत्व आदि रोगों से रहित) है, सुखकारी है, शीतल है, और जगत्त्रय के सन्ताप को दूर करने वाली है । अथवा जो धर्मकथा आकाश गंगा के समान गुरु प्रवाह (बड़े भारी, प्रवाह, गुरु परम्परा) से युक्त है, पंक (कीचड़, दोष) से रहित है, ताप (गर्मी, संसार-ध्रमणजन्य खेद) को नष्ट करने वाली है, कुशल पुरुषों

देवों, गणधरादि चतुर पुरुषों) द्वारा किए गए अवतार (प्रवेश, अवगाहन) से सहित है और पुण्य (पवित्र, पुण्यवर्धक) रूप है। अथवा जो धर्मकथा चित्त को प्रसन्न करने, सब प्रकार के मंगलों का संग्रह करने तथा अपने आप में जगत्त्रय के प्रतिबिम्बित करने के कारण दर्पण की शोभा को हँसती हुई-सी जान पड़ती है। अथवा जो धर्मकथा अत्यन्त उन्नत और अभीष्ट फल को देने वाले श्रुतस्कन्धरूपी कल्पवृक्ष से प्राप्त हुई श्रेष्ठ बड़ी शाखा के समान शोभायमान हो रही है। अथवा जो धर्मकथा, प्रथमानुयोगरूपी गहरे समुद्र की वेला (किनारे) के समान महागम्भीर शब्दों से रहित है और फैले हुए महान् अर्थ रूप जल से युक्त है। जो धर्मकथा स्वर्ग मोक्षादि के साधक समस्त तन्त्रों का निरूपण करने वाली है, मिथ्यामत को नष्ट करने वाली है, सज्जनों के संवेग को पैदा करनेवाली, और वैराग्य रस को बढ़ानेवाली है। जो धर्मकथा आश्चर्यकारी अर्थों से भरी हुई है, अत्यन्त मनोहर है, सत्य अथवा परा प्रयोजन को सिद्ध करने वाली है, अनेक बड़ी-बड़ी कथाओं से युक्त है, गुणवान् पूर्वाचार्यों द्वारा जिसकी रचना की गई है। जो यश तथा कल्याण को करनेवाली है, पुण्यरूप है और स्वर्गमोक्षादि फलों को देने वाली है ऐसी उस धर्मकथा को मैं पूर्व आचार्यों की आमनाय के अनुसार कहूँगा। हे सज्जन पुरुषों, उसे तुम सब ध्यान से सुनो।

पुरुषार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्गकथनं कथा।

तत्रापि सत्कथां धर्म्यामामनन्ति मनीषिणः ॥(118) ॥

मोक्ष पुरुषार्थ के उपयोगी होने से धर्म, अर्थ तथा काम का कथन करना कथा कहलाती है। जिसमें धर्म का विशेष निरूपण होता है उसे बुद्धिमान् पुरुष सत्कथा कहते हैं।

तत्फलाभ्युदयाङ्गत्वाद्दर्थकामकथा कथा।

अन्यथा विकथैवासावपुण्यास्रवकारणम् ॥(119) ॥

धर्म के फल स्वरूप जिन अभ्युदयों की प्राप्ति होती हैं उनमें अर्थ और काम भी मुख्य हैं अतः धर्म का फल दिखाने के लिए अर्थ और काम का वर्णन करना भी कथा कहलाती है। यदि यह अर्थ और काम की कथा धर्मकथा से रहित हो तो वह विकथा ही कहलाएगी और मात्र पाप का ही कारण होगा।

यतोऽभ्युदयनिः श्रेयसार्थसंसिद्धिरञ्जसा।

सद्धर्मस्तत्रिबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता ॥(120) ॥

जिससे जीवों को स्वर्ग आदि अभ्युदय तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है वास्तव में वही धर्म कहलाता है उससे सम्बन्ध रखने वाली जो कथा है उसे सद्धर्मकथा कहते हैं।

प्राहूर्धर्मकथाङ्गानि सप्त सप्तार्थिभूषणाः।

यैर्भूषिता कथाऽऽहार्यैर्नटीव रसिका भवेत् ॥(121) ॥

सप्त ऋषियों से शोभायमान गणधरादि देवों ने इस सद्धर्मकथा के सात अंग कहे हैं। इन सात अङ्गों से भूषित कथा अलङ्कारों से सजी हुई नटी के समान अत्यन्त सरस हो जाती है।

द्रव्यं क्षेत्रं तथा तीर्थं कालो भावः फलं महत्।

प्रकृतं चेत्यमून्याहुः सप्ताङ्गानि कथागुरवे ॥(122) ॥

द्रव्य, क्षेत्र, तीर्थ, काल, भाव, महाफल और प्रकृत यो सात अंग कहलाते हैं। ग्रंथ के आदि में इनका निरूपण अवश्य होना चाहिए।

द्रव्यं जीवादि षोढा स्यात्क्षेत्रं त्रिभुवस्स्थितिः।

जिनेन्द्रचरितं तीर्थं कालं क्षेत्रं प्रकीर्तितः ॥(123) ॥

प्रकृतं स्यात् कथावस्तु फलं तत्त्वावबोधनम्।

भावः क्षयोपशमजस्तस्य स्यात्क्षायिकोऽथवा ॥(124) ॥

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह छः द्रव्य हैं, उर्ध्व, मध्य और पाताल ये तीन लोक क्षेत्र हैं, जिनेन्द्र देव का चरित्र ही तीर्थ है, भूत, भविष्यत् और वर्तमान यह तीन प्रकार का फल काल है, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक ये दो भाव हैं, तत्त्वज्ञान का होना फल कहलाता है, और वर्णनीय कथावस्तु को प्रकृत कहते हैं।

इत्यमून कथाङ्गानि यत्र सा सत्कथा मता ॥(125) ॥

इस प्रकार ऊपर कहे सात अंग जिस कथा में पाये जायें उसे सत्कथा कहते हैं।

(आदिपुराणम् पृष्ठ 16-18)

हितं ब्रूयान्मितं ब्रूयाद् ब्रूयाद् धर्म्यं यशस्करम्।

प्रसङ्गादपि न ब्रूयाद् धर्म्यमयशस्करम् ॥(133) ॥

वक्ता को हमेशा वही वचन बोलना चाहिए जो हितकारी हो, परिमित हो, धर्मोपदेश से सहित हो और यश को करने वाला हो। अवसर आने पर भी अधर्मयुक्त तथा अकीर्ति को फैलाने वाले वचन नहीं कहना चाहिए।

उपरोक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि हितेच्छु, मुमुक्षु, उन्नतकामा व्यक्तियों को सत्कथा/इतिहास/पुराण/धर्मकथा का कथन या श्रवण करना चाहिए, क्योंकि सत्कथा का श्रवण, मनन, लेखन से महापुरुषों के गुणों के प्रति अनुराग होता है, भाव विशुद्ध होते हैं, उनके समान बनने की प्रेरणा मिलती है, मानसिक तनाव दूर होते हैं, समय का सदुपयोग होता है, अनेक विकथाओं से निवृत्त हो जाते हैं। उपरोक्त उपादेयता के साथ-साथ सातिशय मिथ्यादृष्टि को सम्यदर्शन की उपलब्धि हो सकती है। ज्ञान वैराग्य बढ़ने से संयम का मार्ग अपना कर समस्त कर्म बन्धन को तोड़कर शाश्वतिक सुख रूप मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेता है। धवला शास्त्र में वीरसेन स्वामी कहते हैं—“धर्म कथा का श्रवण, मनन, चिन्तन कथन करने से असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। पाप का निरोध होता है एवं सातिशय पुण्य बंध होता है।” रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसी भाव को प्रकट किया है।—

एहि महँ रघुपति नाम उदार,

अति पावन पुरान श्रुति सारा।

मंगल भवन अमंगल हारी,

इसमें श्री रघुनाथ जी का उदार नाम है जो संसार में प्रसिद्ध अत्यन्त पवित्र और वेदों का सार है, मंगल का धर अमंगल का हरने वाला है।

मंगल करनि कलिमल हरनि,

तुलसी कथा रघुनाथ की।

गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं कि रघुनाथ की कथा मंगलकारी और कलियुग के पापों को हरने वाली है।

भक्ति ज्ञान वैराग्य सरस रस,  
बीज दोग्य निर्गुन सगुण अस ।  
मुनि भुसुण्डि शिव प्रथमहिं गाई,  
सोई गाई जग हेतु गोसाई ॥(4) ॥

ज्ञान, भक्ति और वैराग्य ही सुस्वाद रस हैं और निर्गुण और सगुण मत ही इसके बीज हैं । जिस कथा को सर्वप्रथम शिवजी ने, फिर कागभुशुण्डि जी ने और फिर वाल्मीकि मुनि ने गाया है, उसी कथा को जगत् के कल्याण के निमित्त गोसाई ने गाया है ।

जो ग्रंथ जीवों के लिए हितकारी है उसे साहित्य कहते हैं । साहित्य की परिभाषा करते हुए कहा भी है "सद्भ्यो हितं साहित्यं" जो सत् (प्राणियों) का हितकारी हो उसे साहित्य कहते हैं । परन्तु जो साहित्य नैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय उन्नति का कारण न बनकर अवनति का कारण है वह शास्त्र नहीं शस्त्र हैं । कुछ लेखक कवि अर्थ लोलुपता के कारण, दूसरों के मनोरंजन के लिए, कामवासना की पुष्टि के लिए लिखते हैं वह स्वपर के लिए देश, धर्म, राष्ट्र के लिए हानिकारक है । जैसे वर्तमान काल में सिनेमा, टी. वी. उपन्यास में काल्पनिक, अतिरंजित नैतिक पतन के कारण कथा-कहानियों का अधिक प्रचार प्रसार हो रहा जिससे भावात्मक प्रदुषण दिनों दिन बढ़ता जा रहा है । अश्लीलता, कामुकता, चोरी, डकैती, भ्रष्टाचार रूपी कुफल भी सबको चखने को मिल रहा है । सत् साहित्य, सत्कथाओं की कमी देश-विदेश के साहित्यों में नहीं हैं परन्तु प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है । इस दृष्टिकोण को रखकर मैंने जैन (दिगम्बर, श्वेताम्बर) बौद्ध, हिन्दू आदि साहित्य में वर्णित आदर्श बोधप्रद कथाओं का संकलन कथा सौरभ नामक पुस्तक में लिया है । वस्तुतः इस पुस्तक रूपी माला में जो पुष्प हैं वह पुष्प तो प्राचीन ग्रंथ रूपी वृक्ष से चयन किया गया है । अतः इस ग्रंथ के रचयिता व ग्रंथकार ही हैं मैं तो केवल संकलनकर्ता हूँ ।

इस पुस्तक के संकलन में रोहतक की मेरी धर्म शिष्या ब्र० प्रज्ञा जैन (14वर्ष), कु० रूचि जैन ( B. Sc. I Year Med.), कु० रीतू (10+1 Com.), सौ. प्रतिभा जैन (Ph. D.), कु० तनुजा जैन (B. A.), कु० अनीता जैन (B. Ed.), कु० अनुराग जैन (10+2), कु० संजीव जैन (B. Com. III), कु० शैफाली जैन (IX), श्रीमती दर्शन जैन, कु० मीनाक्षी जैन (B. A. I), कु० अल्पना जैन, कु० मोनिका जैन (10+1), कु० पूनम जैन (B. A. IIInd Year), कु० आशु जैन (B. A. I), कु० मधु जैन (B.A.M.S.), कु० मोनिका जैन (10+1), कु० रीतू जैन (B. A. III).

इस पुस्तक - प्रकाशन का अर्थ भार आदीश कुमार जैन, रोहतक ने उठाया है । द्रव्यदाता, लेखनकार्य में सहायक कर्ता, धर्म-दर्शन विज्ञान शोध-प्रकाशन के कार्य-कर्ताओं को मेरा मंगलमय आशीर्वाद है । इस कथा सौरभ को अध्ययन करके स्वयं के जीवन को आदर्श बनाये इन शुभकामनाओं के साथ मेरा आशीर्वाद—

— उपाध्याय कनकनन्दी

## विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
1. आप दीक्षा लेने पर आपका मैं साथी बनूँगा	...1
2. पाप से नाश, धर्म से विकास	...6
3. उपाय करो किन्तु विचार कर	...10
4. राजा के आचरण से प्रकृति भी प्रभावित	...11
5. कामान्ध की मृत्यु के समय में भी काम-चिन्ता	...13
6. ढोंगी धार्मिक	...14
7. धोखाबाजी धार्मिक	...16
8. भोगी से भी त्यागी अधिक सुखी	...17
9. औषधमयी विशल्या	...18
10. सती के कारण जुए में जीतना एवम् अस्तीत्व के कारण हारना	...23
11. साम, दान, भेद और दण्ड की कथा	... 28
12. विमान निर्माता प्रद्युम्न कुमार	...30
13. प्राचीनकाल में आकाश गमन की प्रतियोगिता	...33
14. आकाशगामी प्रतियोगिता	...34
15. प्राचीनकालीन जल-यन्त्र एवम् जल क्रीड़ा	...36
16. आकृति में धर्म; कृति में अधर्म	...39
17. रानी पति को मरवा कर मंत्र ले सकती थी	...41
18. महाभारत की रचना	...45
19. गुरु का आज्ञाकारी शिष्य 1	...48
20. गुरु का आज्ञाकारी शिष्य 2	...49
21. गुरु का आज्ञाकारी शिष्य 3	...52
22. गुरु का आज्ञाकारी शिष्य 4	...52
23. राजा का प्रजा को उपदेश	...58
24. भय बिन धर्म पाले न अज्ञानी	...60
25. कूट तपस्वी	...62

26. विनय	... 63
27. देवर्षि नारद	...65
28. मजाक से भी दूसरों को न सतायें	...67
29. 'साधु-वृत्ति : असंग्रह वृत्ति'	...70
30. बाल्यकाल के कुसंस्कार का फल	...74
31. मातृ द्रोह एवम् लोभ का फल	...77
32. आध्यात्मिक वर	...81
33. राज्य के लिये पितृघात	...86
34. परनारी रत नर अभयत्र नारकी	...92
35. ब्रह्म हत्या का भागी कौन ?	...95
36. वाचाल से मृत्यु	...96
37. शठ के प्रति शठता	...98
38. स्वयंभूदत्त की कथा	...100
39. विवाद से धन की हानि एवम् राजकोष की वृद्धि	...104
40. जैसी करणी वैसी भरणी	...107
41. झूठन खिलाने वाली भार्या में क्यों अनुराग ?	...109
42. त्याग का मूल्य	...111
43. अविश्वास का फल	...113
44. दुःख में सुमिरन सब करें	...114
45. जीवन ओस-बिन्दु	...116
46. धर्म का जीवित एवम् मरने का फल	...118
47. धर्मवेशी लुटेरे	...122
48. बड़ी मार पड़ेगी	...123
49. भक्त राँका-बाँका	...123
50. सत्य का प्रभाव	...124
51. भंजन का अधिकार	...125
52. गर्व को कृतार्थ क्रिया	...126
53. शिकारी से श्रमण	...127
54. अर्जुन का दृढ़ ब्रह्मचर्य	...129
55. विरक्ति	...132

## 1. आप दीक्षा लेने पर आपका मैं साथी बनूँगा

अयोध्यानामक विशाल नगरी में विजय नाम का एक बड़ा राजा हुआ। उसने समस्त शत्रुओं को जीत लिया था। वह सूर्य के सामान प्रताप से संयुक्त था तथा प्रजा के पालन करने में निपुण था। उसकी हेमचूला नाम की महातेजस्विनी पट्टरानी थी सो उसके सुरेन्द्रमन्यु नाम का महागुणवान् पुत्र उत्पन्न हुआ। सुरेन्द्रमन्यु की कीर्तिसमा स्त्री हुई सो उसके चन्द्रमा और सूर्य के सामान कान्ति को धारण करने वाले दो पुत्र हुए। ये दोनों ही पुत्र गुणों से सुशोभित थे। उनमें से बड़े पुत्र का नाम वज्रबाहु और छोटे पुत्र का नाम पुरन्दर था। दोनों ही सार्थक नाम को धारण करने वाले थे और संसार में सुख से क्रीड़ा करते थे। उसी समय अत्यन्त मनोहर हस्तिनापुर नगर में इभवाहन नाम का राजा रहता था। उसकी स्त्री का नाम चूड़ामणि था। उन दोनों के मनोदया नाम की अत्यन्त सुन्दर पुत्री थी सो उसे मनुष्यों में अत्यन्त प्रशंसनीय वज्रबाहु कुमार ने प्राप्त किया। कदाचित् कन्या का भाई उदयसुन्दर उस कन्या को लेने के लिये वज्रबाहु के घर गया सो जिस पर अत्यन्त सुशोभित सफेद छत्र लग रहा था ऐसा वज्रबाहु स्वयं भी उसके साथ चलने के लिए उद्यत हुआ। वह कन्या अपने सौन्दर्य से समस्त पृथ्वी में प्रसिद्ध थी, उसे मन में धारण करता हुआ वज्रबाहु बड़े वैभवं के साथ श्वसुर के नगर की ओर चला।

अथानन्तर चलते - चलते उसकी दृष्टि वसन्त ऋतु के फूलों से व्याप्त वसन्त नामक मनोहर पर्वत पर पड़ी। वह जैसे-जैसे उस पर्वत के नजदीक आता जाता जैसे-जैसे ही उसकी परम शोभा को देखता हुआ हर्ष को प्राप्त हो रहा था। फूलों की धूलि से मिली सुगन्धित वायु उसका आलिंगन कर रही थी सो ऐसा जान पड़ता था मानो चिरकाल के बाद प्राप्त हुआ मित्र ही आलिंगन कर रहा हो। जहां वृक्षों वल अग्र भाग वायु से कम्पित हो रहे थे, ऐसा वह पर्वत पुंस्कोकिलाओं के शब्दों के बहाने मानो वज्रबाहु का जय-जयकार ही कर रहा था। वीणा की झंकार के समान मनोहर मदशाली भ्रमरों के शब्द से उसके श्रवण तथा मन साथ ही साथ हरे गये। 'यह आम है, यह कनेर है, यह फूलों से रहित (सहित) लोध है, यह प्रियाल है और यह जलती हुई अग्नि के समान सुशोभित पलाश है।' इस प्रकार क्रम से चलती हुई उसकी निश्चल दृष्टि दूरी के कारण जिसमें मनुष्य के आकार का संशय हो रहा था ऐसे मुनिराज पर पड़ी। कायोत्सर्ग से स्थित मुनिराज के विषय में वज्रबाहु को वितर्क उत्पन्न हुआ कि

क्या वह टूट है ? या साधु है, अथवा पर्वत का शिखर है ? तदनन्तर जब अत्यन्त समीपवर्ती मार्ग में पहुँचा तब उसे निश्चय हुआ कि यह महायोगी-मुनिराज है। वे मुनिराज ऊँची-नीची शिलाओं से विषम धरातल में स्थिर विराजमान थे, सूर्य की किरणों से आलिंगित होने के कारण उनका मुखकमल म्लान हो रहा था, किसी बड़े सर्प के समान सुशोभित उनकी दोनों उत्तम भुजाएं नीचे की ओर लटक रही थीं, उनका वक्षः स्थल सुमेरु के तट के समान स्थूल तथा चौड़ा था, उनकी देदीप्यमान दोनों उत्कृष्ट जाँघें दिग्गजों के बाँधने के खम्भों के समान स्थिर थीं, यद्यपि वे तप के कारण कृश थे तथापि कांति से अत्यन्त स्थूल जान पड़ते थे, वे अपने अत्यन्त सौम्य निश्चल नेत्र नासिका के अग्रभाग पर स्थापित कर रहे थे, इस प्रकार एकाग्र रूप से ध्यान करते हुए मुनिराज को देखकर राजा वज्रबाहु इस प्रकार विचार करने लगे कि अहो ! इन अत्यन्त प्रशान्त उत्तम मानव को धन्य है जो समस्त परिग्रह का त्याग कर मोक्ष की इच्छा से तपस्या कर रहे हैं। इन मुनिराज पर मुक्ति-लक्ष्मी ने अनुग्रह किया है, इनकी बुद्धि आत्मकल्याण में लीन है, इसकी आत्मा परपीड़ा से निवृत्त हो चुकी है, ये अलौकिक लक्ष्मी से अलंकृत हैं, शत्रु और मित्र, तथा रत्नों की राशि और तृण में समान बुद्धि रखते हैं, मान एवं मत्सर से रहित हैं, सिद्धिरूपी वधू का अलिंगन करने में इनकी लालसा बढ़ रही है, इन्होंने इन्द्रियों और मन को वश में कर लिया है, ये सुमेरु के समान स्थिर हैं, वीतराग हैं तथा कुशल कार्य में मन स्थिर कर ध्यान कर रहे हैं। मनुष्य में जन्म का पूर्ण-फल इन्होंने प्राप्त किया है, इन्द्रिय रूपी दुष्ट चोर इन्हें नहीं उग सके हैं। और मैं ? मैं तो कर्म रूपी पाशों से उस तरह निरन्तर वेष्टित हूँ जिस तरह कि आशीविष जाति के बड़े-बड़े सर्पों से चन्दन का वृक्ष वेष्टित होता है। जिसका चित्त प्रमाद से भरा हुआ है ऐसे जड़ तुल्य मुझ पापी के लिए धिक्कार है। मैं भोगरूपी पर्वत की बड़ी गोल चट्टान के अग्रभाग पर बैठकर सो रहा हूँ। यदि मैं इन मुनिराज की इस अवस्था को धारण कर सकूँ तो मनुष्य-जन्म का फल मुझे प्राप्त हो जावे। इस प्रकार विचार करते हुए राजा वज्रबाहु की दृष्टि उन निर्ग्रन्थ मुनिराज पर खम्भे में बँधी हुई के समान अत्यन्त निश्चल हो गयी। इस तरह वज्रबाहु को निश्चल दृष्टि देख उदयसुन्दर ने मुस्कराकर हँसी करते हुए कहा कि आप इन मुनिराज को बड़ी देर से देख रहे हैं सो क्या इस दीक्षा को ग्रहण कर रहे हो ? इसमें आप अनुरक्त दिखाई पड़ते हैं। तदनन्तर अपने भाव को छिपाकर वज्रबाहु ने कहा कि हे उदय ! तुम्हारा क्या भाव है सो तो कहो। उसे अन्तर से विरक्त न जानकर उदयसुन्दर ने परिहास के अनुरागवश दाँतों की किरणों से ओठों को व्याप्त करते हुए कहा कि यदि आप इस दीक्षा को स्वीकृत करते हैं तो मैं भी आपका सखा अर्थात् साथी होऊँगा। अहो कुमार ! आप इस मुनि दीक्षा से अत्यधिक सुशोभित होओगे।

'ऐसा हो' इस प्रकार कहकर विवाह के आभूषणों से युक्त वज्रबाहु हाथी से उतरा और पर्वत पर चढ़ गया तब विशाल नेत्रों को धारण करने वाली स्त्रियाँ जोर-जोर से रोने लगीं। उनके नेत्रों से टूटे हुए मोतियों के हार के समान आँसुओं की बड़ी-बड़ी बूँदें गिरने लगीं उदयसुन्दर ने भी आँखों में आँसू भर कर कहा कि हे देव ! प्रसन्न होओ, यह क्या कर रहे हो ? मैंने तो हँसी की थी। तदनन्तर मधुर शब्दों में सान्त्वना देते हुए वज्रबाहु ने उदयसुन्दर से कहा कि हे उत्तम अभिप्राय के धारक ! मैं कुँएँ में गिर रहा था सो तुमने निकाला है। तीनों लोकों में तुम्हारे समान मेरा दूसरा मित्र नहीं है। हे सुन्दर ! संसार में जो उत्पन्न होता है उसका मरण अवश्य होता है और जो मरता है उसका जन्म अवश्यंभावी है। यह जन्म-मरण रूपी घंटीयन्त्र बिजली, लहर तथा दुष्ट सर्प की जिह्वा से भी अधिक चंचल है तथा निरन्तर घूमता रहता है। दुःखः में फँसे हुए संसार के जीवन की ओर तुम क्यों नहीं देख रहे हो ? ये भोग स्वप्नों के भोगों के समान हैं, जीवन बुदबुद के तुल्य है, स्नेह संध्या की ललिमा के सामन हैं और यौवन फूल के समान है। हे भद्र ! तेरी हँसी भी मेरे लिए अमृत के समान हो गयी। क्या हँसी में पी गयी औषधि रोग को नहीं हरती ? चूँकि तुमने मेरी कल्याण की ओर प्रवृत्ति करायी है इसलिए आज तुम्हीं एक मेरे बन्धु हो। मैं संसार-के आचार में लीन था सो आज तुम उससे विरक्ति के कारण हो गये। लो, अब मैं दीक्षा लेता हूँ। तुम अपने अभिप्राय के अनुसार कार्य करो। इतना कहकर वह गुणसागर नामक मुनिराज के पास गया और उनके चरणों में प्रणाम कर बड़ी विनय से हाथ जोड़ता हुआ बोला कि हे स्वामिन् ! आपके प्रसाद से मेरा मन पवित्र हो गया है सो आज मैं इस भयंकर संसाररूपी कारागृह से निकलना चाहता हूँ।

तदनन्तर ध्यान समाप्त होने पर मुनिराज ने उसके इस कार्य की अनुमोदना की। सो महासंवेग से भरा वज्रबाहु वस्त्राभूषण त्याग कर उनके सामने शीघ्र ही पद्मासन से बैठ गया। उसने पल्लव के समान लाल-लाल हाथों से केश उखाड़ कर फैंक दिये। उसे उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो उसका शरीर रोग रहित होने से हलका हो गया हो। इस तरह उसने विवाह सम्बन्धी दीक्षा का परित्याग कर मोक्ष प्राप्त करने वाली दीक्षा धारण कर ली। तदनन्तर जिन्होंने राग, द्वेष और मद का परित्याग कर दिया था, संवेग की ओर जिनका वेग बढ़ रहा था, तथा जो काम के समान सुन्दर विभ्रम को धारण करने वाले थे, ऐसे उदयसुन्दर आदि छब्बीस राजकुमारों ने भी परमोत्साह से सम्पन्न हो मुनिराज को प्रणाम कर दीक्षा धारण कर ली। यह समाचार जानकर भाई के स्नेह से भीरु मनोदया ने भी बहुत भारी संवेग से युक्त हो दीक्षा ले ली। सफेदी वस्त्र से जिसका विशाल स्तनमण्डल आच्छादित था, जिसका उदर

अत्यन्त कृश था और जिसके शरीर पर मैल लग रहा था ऐसी मनोदया बड़ी तपस्विनी हो गयी। वज्रबाहु बाबा के विजयस्यन्दन को जब इस समाचार का पता चला तब शोक से पीड़ित होता हुआ वह सभा के बीच में इस प्रकार बोला कि अहो ! आश्चर्य की बात देखो, प्रथम अवस्था में स्थित मेरा नाती विषयों से विरक्त हो दैगम्बरी दीक्षा को प्राप्त हुआ है। मेरे समान वृद्ध पुरुष भी दुःख से छोड़ने योग्य जिन विषयों के अधीन हो रहा है वे विषय उस कुमार ने कैसे छोड़ दिया। अथवा उस भाग्यशाली पर मुक्ति रूपी लक्ष्मी ने बड़ा अनुग्रह किया है जिससे वह भोगों को तृण के समान छोड़कर निराकुल भाव को प्राप्त हुआ है। प्रारम्भ में सुन्दर दिखने वाले पापी विषयों ने जिसे चिरकाल से ठगा है तथा जो वृद्धावस्था से पीड़ित है ऐसा मैं अभाग्य इस समय कौन-सी चेष्टा को धारण करूँ ? मेरे जो केश इन्द्रनील मणि की किरणों के समान श्याम वर्ण थे वे ही आज कास के फूलों की राशि के समान सफेद हो गये हैं। सफेद काली और लाल कान्ति को धारण करने वाले मेरे जो नेत्र मनुष्यों के मन को हरण करने वाले थे, अब उनका मार्ग भृकुटी रूपी लताओं से आच्छादित हो गया है अर्थात् अब वे लताओं से आच्छादित गर्त के समान जान पड़ते हैं। मेरा जो यह शरीर कान्ति से उज्ज्वल तथा महाबल से युक्त था वह अब वर्षा से ताड़ित चित्र के समान निष्प्रभ हो गया। अर्थ, धर्म और क्राम ये तीन पुरुषार्थ तरुण मनुष्य के योग्य है। वृद्ध मनुष्य के लिए इनका करना कठिन है। चेतनाशून्य, दुराचारी, प्रमादी तथा भाई-बन्धुओं के मिथ्यासनेह रूपी सागर की भंवर में पड़े हुए मुझ पापी को धिक्कार हो। इस प्रकार कहकर तथा समस्त बन्धुओं से पूछकर उदारहृदय वृद्ध राजा विजयस्यन्दन ने निःस्पृह हो छोटे पोते पुरन्दर के लिए राज्य सौंप दिया और स्वयं निर्वाणघोष नामक निर्ग्रन्थ महात्मा के समीप अपने पुत्र सुरेन्द्रमन्यु के साथ दीक्षा ले ली।

तदनन्तर पुरन्दर की भार्या पृथ्वीमती ने कीर्तिधर नामक पुत्र को उत्पन्न किया। वह पुत्र समस्त प्रसिद्ध गुणों का मानो सागर ही था अपनी सुन्दर चेष्टा से समस्त बंधुओं की प्रसन्नता को बढ़ाता हुआ विनयी कीर्तिधर क्रम-क्रम से यौवन को प्राप्त हुआ। तब राजा पुरन्दर ने उसके लिए कौशल देश के राजा की पुत्री स्वीकृत की। इस तरह पुत्र का विवाह कर राजा पुरन्दर विरक्त हो घर से निकल पड़ा। गुणरूपी आभूषणों को धारण करने वाले राजा पुरन्दर ने क्षेमंकर मुनिराज के समीप दीक्षा लेकर कर्मों की निर्जरा का कारण कठिन तप करना प्रारम्भ किया। इधर शत्रुओं को जीतने वाला राजा कीर्तिधर कुल-क्रमागत राज्य का पालन करता हुआ देवों के समान उत्तम भोगों के साथ सुखपूर्वक क्रीडा करने लगा।

अथानन्तर किसी दिन शत्रुओं को भयभीत करने वाला प्रजा-वत्सल राज

कीर्तिधर, अपने सुन्दर भवन के ऊपर नलकूबर विद्याधर के समान सुख से बैठा हुआ सुशोभित हो रहा था कि उसकी दृष्टि राहु विमान को नील कान्ति से आच्छादित सूर्यमण्डल (सूर्यग्रहण) पर पड़ी। उसे देखकर वह विचार करने लगा कि अहो ! उदय में आया कर्म दूर नहीं किया जा सकता। सूर्य भीषण अन्धकार को नष्ट कर चन्द्रमण्डल को कान्तिहीन कर देता है तथा कमलों के वन को विकसित करता है वह सूर्य राहु को दूर करने में समर्थ नहीं है। जिस प्रकार यह सूर्य नष्ट हो रहा है उसी प्रकार यह यौवनरूपी सूर्य भी जरारूपी ग्रहण को प्राप्त कर नष्ट हो जावेगा। मजबूत पाश से बंधा हुआ यह बेचारा प्राणी अवश्य ही मृत्यु के मुख में जाता है। इस प्रकार समस्त संसार को अनित्य मानकर राजा कीर्तिधर ने सभा में बैठे हुए मन्त्रियों से कहा कि अहो मन्त्री जनों ! इस सागरान्त पृथ्वी की आप लोग रक्षा करो। मैं तो मुक्ति के मार्ग में प्रयाण करता हूँ। राजा के ऐसा कहने पर विद्वानों तथा बन्धुजनों से परिपूर्ण सभा विषाद को प्राप्त हो उससे इस प्रकार बोली कि हे राजन् ! इस समस्त पृथ्वी के तुम्हीं एक अद्वितीय पति हो। यह पृथ्वी आपके आधीन है तथा आपने समस्त शत्रुओं को जीता है, इसलिए आपके छोड़ने पर सुशोभित नहीं होगी। उन्नत पराक्रम के धारक ! अभी आपकी नयी अवस्था है इसलिए इन्द्र के समान राज्य करो।

इसके उत्तर में राजा ने कहा कि जो जन्म रूपी वृक्षों से संकुल है, व्याप्त है बुढ़ापा है, वियोग तथा अरतिरूपी अग्नि से प्रज्वलित है तथा अत्यन्त दीर्घ है ऐसी इस व्यसन रूपी अटवी को देखकर मुझे भारी भय उत्पन्न हो रहा है। जब मन्त्री जनों को राजा के दृढ़ निश्चय का बोध हो गया तब उन्होंने बहुत से बुझे हुए अंगारों का समूह बुझाकर उसमें किरणों से सुशोभित उत्तम वैडूर्यमणि रखा सो उसके प्रभाव से वह बुझे हुए अंगारों का समूह प्रकाशमान हो गया। तदनन्तर वह रत्न उठाकर बोले कि हे राजन् ! जिस प्रकार इस उत्तम रत्न से रहित अंगारों का समूह शोभित नहीं होता है उसी प्रकार आपके बिना यह संसार शोभित नहीं होगा। हे नाथ ! तुम्हारे बिना यह बेचारी समस्त प्रजा अनाथ तथा विकल होकर नष्ट हो जायेगी। प्रजा के नष्ट होने पर धर्म नष्ट हो जायेगा और धर्म के नष्ट होने पर क्या नहीं नष्ट होगा सो तुम्हीं कहो। इसलिए जिस प्रकार आपके पिता ने प्रजा की रक्षा के लिए आपको देकर मोक्ष प्रदान करने में दक्ष तपश्चरण किया था उसी प्रकार आप भी अपने इस कुलधर्म की रक्षा कीजिए।

अथानन्तर कुशल मन्त्रियों के इस प्रकार कहने पर राजा कीर्तिधर ने नियम किया कि जिस समय मैं पुत्र को उत्पन्न हुआ सुनूंगा उस समय मुनियों का उत्कृष्ट पद अवश्य धारण कर लूंगा। तदनन्तर जिसके भोग और पराक्रम इन्द्र के समान थे तथा जिसकी

आत्मा सदा सावधान रहती थी ऐसे राजा कीर्तिधर ने सब प्रकार के भय से रहित तथा व्यवस्था से युक्त दीर्घ पृथ्वी का चिरकाल तक पालन किया। तदनन्तर राजा कीर्तिधर के साथ चिरकाल तक सुख का उपभोग करती हुई रानी सहदेवी ने सर्वगुणों से परिपूर्ण एवं पृथ्वी के धारण करने में समर्थ पुत्र को उत्पन्न किया। पुत्र-जन्म का समाचार राजा के कानों तक न पहुंच जावे इस भय से पुत्र जन्म का उत्सव नहीं किया गया तथा इसी कारण कितने ही दिन तक प्रसव का समय गुप्त रखा गया। तदनन्तर उगते हुए सूर्य के समान वह बालक चिरकाल तक छिपाकर कैसे रक्खा जा सकता था ? फलस्वरूप किसी दरिद्र मनुष्य ने पुरस्कार पाने के लोभ से राजा को उसकी खबर दे दी। राजा ने हर्षित होकर उसके लिए मुकुट आदि दिए तथा विपुल धन से युक्त सौ गाँवों के साथ घोष नाम का मनोहर शाखा नगर दिया। और माता की महा तेजपूर्ण गोद में स्थित उस एक पक्ष के बालक को बुलवाकर उसे बड़े वैभव के साथ अपने पद पर बैठाया तथा सब लोगों का सम्मान किया। चूँकि उसके उत्पन्न होने पर वह कोसाला नगरी वैभव से अत्यन्त मनोहर हो गयी थी इसलिए उत्तम चेष्टाओं को धारण करने वाला वह बालक 'सुकोसल' इस नाम को प्राप्त हुआ

तदनन्तर राजा कीर्तिधर भवन रूपी कारागार से निकलकर तपोवन में पहुंचा और तप सम्बन्धी तेज से वर्षाकाल से रहित सूर्य के समान अत्यन्त सुशोभित होने लगा।

(पद्मपुराण पृ. 449)

## 2. पाप से नाश, धर्म से विकाश

किसी नगर में 'धर्मबुद्धि' और 'पापबुद्धि' नाम के दो मित्र रहते थे। एक दिन पापबुद्धि ने विचार किया कि 'मैं तो मूर्ख और दरिद्र हूँ। सो इस धर्मबुद्धि को साथ लेकर देशान्तर में जाकर इसकी सहायता से धन उपार्जित करूँ। (कमाऊँ और उसके बाद इसे भी ठगकर सुखी हो जाऊँ।' तदनुसार किसी दूसरे दिन पापबुद्धि ने धर्मबुद्धि से कहा— 'हे मित्र ! वृद्धावस्था (बुढ़ाई) में तुम अपने-अपने कौन से कार्य को स्मरण (याद) करोगे ? दूसरे देश को देखे बिना अपने बालकों से कौन सी बात कहोगे ? कहा भी है—

देशान्तरेषु बहुविधभाषावेष्टादि येन न ज्ञातम्।

भ्रमता धरणी पीठे तस्य फलं जन्मनो व्यर्थम् ॥ (430) ॥

जिस व्यक्ति ने दूसरे देशों में घूमकर अनेक प्रकार की भाषा और वेष (पोशाक) आदि को नहीं समझा उसका भूतल पर जन्म ग्रहण करना निरर्थक है। तथा च —

विद्यां वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक्।

यावद् व्रजति न भूमौ देशादेशान्तरं हृष्टः ॥ (431) ॥

उसी तरह - कोई भी व्यक्ति भूतल पर विद्या, वित्त (धन), शिल्प (वैज्ञानिक व्यापार, कारीगरी) तब तक अच्छी तरह नहीं प्राप्त करता, जब तक प्रफुल्लित मन से देश-देशान्तर नहीं जाता।

इसके बाद उसकी इस तरह की बात को सुनकर धर्मबुद्धि प्रसन्नचित्त होकर गुरुजनों (बड़े लोगों) की आज्ञा लेकर उसी के साथ किसी अच्छे दिन में दूर देश की ओर प्रस्थान किया। वहाँ धर्मबुद्धि के प्रभाव से भ्रमण करते हुए पापबुद्धि ने बहुत सा धन प्राप्त किया। उसके बाद वे दोनों अत्याधिक धनोपार्जन से प्रसन्न हो बड़ी उत्कण्ठा से अपने घर की ओर लौटे। कहा भी है -

प्राप्तविद्यार्थशिल्यानां देशान्तरनिवासिनाम्।

क्रोशमात्रोऽपि भूभागः शतयोजनवद्भवेत् ॥ (432) ॥

विद्या, धन और शिल्प (कारिगरी) प्राप्त करने के बाद देशान्तर में गये हुए व्यक्ति के लिए अपने घर की ओर की एक कोस भर की जमीन सौ योजन (400 कोस) के तुल्य (अधिक दूर वाली) हो जाती है।

इसके बाद जब पापबुद्धि अपने घर के पास पहुँचा तब उसने धर्मबुद्धि से कहा — 'सौम्य ! सब धन घर ले जाना ठीक नहीं है, क्योंकि भाई-बिरादर एवं जाति के लोग उसे मांगने लगेंगे। सो इसी घोर जंगल में कहीं भूमि में गाड़कर और इसमें थोड़ा सा धन लेकर हम दोनों घर चलें। फिर आवश्यकता पड़ने पर यहाँ आकर हम दोनों शेष धन ले जायेंगे। कहा भी है —

न वित्तं दर्शयेत्प्राज्ञः कस्यचित्स्वल्पमप्यहो।

मुनरेपि यतस्तस्य दर्शनाच्चलते मनः ॥ (433) ॥

बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिए कि अपना थोड़ा धन भी किसी को नहीं दिखलावे। क्योंकि उसके देखने से मुनि लोगों का भी मन चलायमान हो जाता है। तथा च —

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्षयते श्वापदैर्भुवि।

आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तमान् ॥ (434) ॥

और भी- जिस प्रकार मांस जल में मछलियों द्वारा, पृथ्वी पर सिंहादि हिंसक

जन्तुओं द्वारा, आकाश में पक्षियों द्वारा खाया जाता है, उसी प्रकार सब जगह धनवान् व्यक्ति खाया जाता है- लूटा जाता है ।

यह सुनकर धर्मबुद्धि ने कहा — 'सौम्य ! ऐसा ही करो ।' वैसा करने पर वे दोनों अपने-अपने घर जाकर आनन्द से रहने लगे । इसके बाद किसी दूसरे दिन पापबुद्धि, आधी रात के समय जंगल में जाकर, वह सब धन लेकर गड्डे को भर कर अपने घर चला आया । तदनन्तर दूसरे दिन धर्मबुद्धि के समीप आकर कहा — 'हे मित्र ! हम लोग बहुत परिवार वाले हैं और धन के अभाव से कष्ट पाते हैं । सो उस जगह पर चलकर कुछ थोड़ा सा धन ले आवें ।' उसने कहा— 'सौम्य ! ऐसा ही करो ।' इसके पश्चात् दोनों ने जाकर जब उस जगह को खोदा तो रिक्त भाण्ड देखा । इतने में पापबुद्धि ने मस्तक पीटते हुए कहा — 'हे धर्मबुद्धि ! तुम्हीं ने इस धन का हरण कर लिया है और दूसरे ने नहीं । धन लेकर तुमने ही गड्ढा भर दिया है । इसलिए मुझे उसका आधा दे दो, नहीं तो मैं राज-दरबार में जाकर निवेदन करूंगा ।' उसने कहा — 'अरे दुष्ट ! ऐसा मत कह, क्योंकि मैं धर्मबुद्धि हूँ । ऐसा चोर का कर्म मैं नहीं कर सकता । कहा भी है —

मातृवत्परदाराणि परद्रव्याणि लोष्टवत् ।

आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः ॥ (435) ॥

जिनकी बुद्धि सत्कर्म में रहती है ऐसे धार्मिक लोग परायी स्त्री को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और समस्त जीवों को अपनी आत्मा के समान देखते हैं ।

इस प्रकार वे दोनों विवाद करते हुए धर्माधिकारी के समीप जाकर एक दूसरे को दोष लगाते हुए कहने लगे । इसके बाद जब धर्माधिकारी से नियुक्त राजपुरुषों ने शपथ-ग्रहण के लिए कहा, तब पापबुद्धि ने कहा — 'अहो ! यह न्याय तो उचित नहीं देखने में आता । कहा भी है —

विवादेऽन्विष्यते पत्रं तदभावेऽपि साक्षिणः ।

साक्ष्यभावात्ततो दिव्यं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ (436) ॥

विवाद कर्म में पहले लेख-पत्र का अन्वेषण किया जाता है, उसके न मिलने पर साक्षी खोजे जाते हैं, साक्षी के अभाव में शपथ-ग्रहण कराया जाता है — इस प्रकार राज नियम के अनभिज्ञ लोग कहते हैं ।

सो इस विषय में हमारे साक्षी वन देवता हैं । वे ही हम दोनों में से एक को चोर

या साधु बतावेंगे ! उसके बाद इन सभी ने कहा— 'हां, हां ! तुमने बहुत ठीक कहा । कहा भी है—

अन्त्यजोऽपि यदा साक्षी विवादे सम्प्रजायते ।

न तत्र विद्यते दिव्यं किं पुनर्यत्र देवताः ॥ (437) ॥

विवाद में यदि अन्त्यज भी साक्षी होता है तो वहाँ शपथ की जरूरत नहीं समझी जाती, फिर जहाँ देवता साक्षी हों तो क्या पूछने की बात है ?

सो हम लोगों को भी इस विषय में अत्यन्त कौतुक है । सो तुम दोनों को प्रातःकाल हम लोगों के साथ उस वन में जाना होगा । इसी बीच में पापबुद्धि ने अपने घर जाकर अपने पिता से कहा — 'हे पिताजी ! मैंने धर्मबुद्धि का प्रभूत धन चुरा लिया है, और तुम्हारे कहने से वह पच जायेगा । नहीं तो मेरे प्राणों के साथ वह धन भी चला जाएगा ।' उसने कहा — 'वत्स ! जल्दी बताओ, जो मैं उसे कहकर उस द्रव्य को स्थिर कर दूँ ।' पापबुद्धि ने कहा— 'हे पिताजी ! उस स्थान पर एक बहुत बड़ा शमी का वृक्ष है । उसमें एक बहुत बड़ा कोटर है । उसमें तुम इस समय ही जा घुसो । उसके बाद प्रातःकाल जब मैं सत्य कहने को कहूंगा तब तुम कहना कि धर्मबुद्धि चोर है ।' ऐसा करने पर योजनानुसार प्रभातकाल पापबुद्धि ने स्नानकर धुले हुए कपड़े पहनकर, धर्मबुद्धि को आगे कर, धर्माधिकारियों के साथ उस शमी वृक्ष के निकट पहुंचकर ऊंचे स्वर से कहा -

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च धौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मो हि जानाति नरस्थ वृत्तम् ॥ (438) ॥

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल, हृदय, यमराज, दिन-रात दोनों सन्ध्याएँ और धर्म—ये मनुष्यों के चरित्र को जानते हैं ।

'मातः वनदेवते ! हम दोनों में जो चोर हो उसे तुम कहो ।' इसके बाद शमी के खोखले में बैठा हुआ पापबुद्धि का पिता कहने लगा— 'अहो ! तुम सब सुनो, यह सब धन धर्मबुद्धि ने चुराया है ।' यह सुनकर उन सब राजपुरुषों की आँखें आश्चर्य से खुल गयीं और जब वे धर्मबुद्धि के धन हरण के योग्य दण्ड को शास्त्र की दृष्टि से विचारने में तत्पर हो गये, तब धर्मबुद्धि ने उस शमी वृक्ष के खोखले में घास-पात भर कर आग लगा दी । उस कोटर के जलने पर उससे आधा शरीर जला हुआ, फूटे नेत्र वाला, करुण स्वर से चिल्लाता हुआ पापबुद्धि का पिता निकला । उसके बाद उन अधिकारियों ने पूछा — 'अरे, यह क्या हो गया ?' इस प्रकार कहने पर 'यह सब कुकृत्य पापबुद्धि के कारण हुआ ।' यह निवेदन कर वह मर गया । तदनन्तर उन

राजपुरुषों ने पापबुद्धि को शमी वृक्ष की शाखा में लटका कर धर्मबुद्धि की प्रशंसा करते हुए कहा — अहो ! यह ठीक ही कहा है —

उपायं चिन्तयेत्त्राज्ञस्तथापायं च चिन्तयेत् ।

बुद्धिमान का कर्तव्य है कि उपाय के साथ-साथ अपाय की भी चिन्ता करे ।

(पंचतंत्रम्-मित्रभेदः- पृष्ठ-178)

### 3. 'उपाय करो किन्तु विचार कर'

किसी वन में अनेक बगुलों से युक्त एक वट का वृक्ष था । उसके कोटर में एक काला सांप रहता था । वह पंख न निकले हुए बगुलों के बच्चों का भक्षण करता हुआ अपना समय बिता रहा था । तदनन्तर एक बगुला उसके द्वारा अपने बच्चों का भक्षण किए हुए देखकर बच्चों के मरण के शोक में जलाशय के किनारे आकर अश्रुधारा परिपूर्ण आँखों से नीचे की ओर मुँह किए हुए बैठा था । उसे उस अवस्था में देखकर एक कुलीरक ने पूछा — 'मामा ! आज आप इस तरह क्यों रो रहे हैं ?' उसने कहा— 'सौम्य ! क्या करूं ? मुझ भाग्यहीन के सभी बालकों को खोखले में रहने वाले काले सांप ने भक्षण कर लिया है । सो उसी के दुःख से दुःखित होकर मैं रो रहा हूँ । यदि उस सांप के नाश का कोई उपाय हो तो मुझसे कहो ।' यह सुनकर कुलीरक ने विचार किया कि 'यह तो मेरी जाति का सहज बैरी है, अतः इस प्रकार सत्य और असत्य से मिश्रित उपदेश दूँ कि दूसरे सभी बगुले भी नष्ट हो जायें । कहा भी है -

नवनीतसमां वाणी कृत्वा चित्तं तु निर्दयम् ।

तथा प्रबोध्यते शत्रुः सान्वयो प्रियते यथा ॥ (440) ॥

वाणी को मक्खन के समान कोमल और चित्त को निष्ठुर करके शत्रु को इस प्रकार समझाये कि जिससे वह कुल सहित विनाश को प्राप्त हो जाए । उसने कहा— 'मामा ! यदि ऐसा है तो मछलियों के माँस के टुकड़े लेकर नेवले के बिल के छेद से लेकर सांप के खोखले तक डाल दो, जिससे उस मार्ग से जाकर उस दुष्ट सांप को मार डालेगा ।' इस प्रकार करने पर मछलियों के माँस का अनुसरण करने वाले नेवले ने उस काले सांप को मारकर उस वृक्ष पर रहने वाले सभी बगुलों को धीरे-धीरे खा लिया ।

(पंचतंत्रम्-मित्रभेदः- पृष्ठ-184)

### 4. 'राजा के आचरण से प्रकृति भी प्रभावित'

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय बोधिसत्व ब्राह्मण कुल में पैदा हुए । बड़े होने पर सब शिल्प सीखे । फिर ऋषि-प्रब्रज्या ले अभिञ्जा और समापत्तियां प्राप्त कर रमणीय हिमालय प्रवेश में फल-मूल का आहार करते हुए रहने लगे ।

उस समय राजा अपने दोष ढूँढ़ने वाला हो, किसी ऐसे आदमी को खोजता था जो उसके दोष कहे । उसने अन्दर के आदमियों, बाहर के आदमियों, नगर के आदमियों तथा नगर के बाहर के आदमियों में से किसी को भी अपने दोष कहने वाला न पाया । उसने सोचा 'जनपद' में कहेंगे । इसलिए भेष बदलकर जनपद में घूमा । जब वहाँ भी कोई दोष कहने वाला न मिला, गुण ही सुनने को मिले तो यह सोचा कि हिमालय प्रदेश में कहेंगे, वह जंगल में घूमता-घूमता बोधिसत्व के आश्रम पर पहुँचा और प्रणाम किया । बोधिसत्व ने कुशल क्षेम पूछा । वह एक ओर बैठा ।

तब बोधिसत्व जंगल से पके गोदे लाकर खाते थे । वे मीठे थे, शक्तिवर्धक थे और शक्कर समान थे । उसने राजा को भी सम्बोधित कर कहा— 'महापुण्य ! यह गोदे खाकर पानी पियो ।' राजा ने गोदे खा, पानी पी, बोधिसत्व से पूछा — 'भन्ते ! क्या बात है यह गोदे बहुत ही मीठे हैं ?'

"महापुण्य ! राजा निश्चय से धर्मानुसार न्याय से राज्य करता है । उसी से यह मीठे हैं ।"

"भन्ते ! राजा के अधार्मिक होने पर अमधुर हो जाता है ?"

"हाँ महापुण्य ! राजाओं के अधार्मिक होने पर तेल, मधु, शक्कर आदि तथा जंगल के फल-मूल भी अमधुर हो जाते हैं, ओज-रहित हो जाते हैं । केवल ये ही नहीं, सारा राष्ट्र ओज-रहित हो जाता है, खराब हो जाता है । उनके धार्मिक होने पर वे मधुर होते हैं, शक्ति-वर्धक होते हैं और सारा राष्ट्र शक्तिशाली होता है ।"

राजा "भन्ते ! ऐसा होगा" कह और अपना राजा होना बिना प्रकट किये बोधिसत्व को प्रणाम कर वाराणसी चला आया । उसने सोचा तपस्वी के कथन की परीक्षा करूंगा । 'अधर्म से राज्य कर, अब देखूंगा' सोच कुछ समय बीता, वह फिर यहाँ पहुँचा । प्रणाम करके एक ओर बैठा ।

बोधिसत्व ने भी उसे बैठो ही कह पके गोदे दिए । वह उसे कडुए लगे । राजा ने

अस्वादिष्ट जान थूक सहित फेंक कहा—“भन्ते ! कडुआ है।

“महापुण्य ! राजा निश्चय से अधार्मिक होगा। राजाओं के अधार्मिक होने पर जंगल के फल-मूल से लेकर सभी नीरस हो जाता है। ओज-रहित हो जाता है।”

यह कह ये गाथाएं कहीं-

गवं चे तरमानानं जिह्यं गच्छति पुङ्गवो,  
सब्बा गावी जिह्यं मन्ति नेते जिह्यं गते सति ।  
एवमेव मनुस्सेसु मो होति सेट्टसम्मतो,  
सो चे अधम्मं चरित पगेव इतरा पजा,  
सब्बं रट्टं दुक्खं सेति राजा चे हेति अधम्मिको ।  
गवं चे तरमानानं उजुं गच्छति पुङ्गवो,  
सब्बदा गावी उजुं यन्ति नेते उजुगते सति ।  
एवमेव मनुस्सेसु मो होति सेट्टसम्मतो,  
सो चेपि धम्मं चरित पगेव इतरा पजा,  
सब्बं रट्टं सुखं सेति राजा चे होति धम्मिको ।

गौवों के (नदी) तैरने के समय यदि बैल टेढ़ा जाता है तो नेता के टेढ़े जाने के कारण सभी गौवें टेढ़ी जाती हैं। इस प्रकार मनुष्यों में जो श्रेष्ठ माना जाता है यदि वह अधर्म करता है तो शेष प्रजा पहले ही अधर्म करती है। राजा के अधार्मिक होने पर सारा राज्य दुःख को प्राप्त होता है। गौओं के (नदी) तैरने के समय यदि बैल सीधा जाता है तो नेता के सीधा जाने के कारण सभी गौवें सीधी जाती हैं। इसी प्रकार मनुष्यों में जो श्रेष्ठ माना जाता है यदि वह धर्म करता है तो शेष प्रजा पहले ही धर्म करती है। राजा के धार्मिक होने पर सारा राष्ट्र सुख प्राप्त करता है।

राजा ने बोधिसत्व से धर्म सुन, अपना राजा होना प्रकट किया—“भन्ते ! मैंने ही पहले गोदो को मीठा कर फिर कडुआ किया। अब फिर मीठा करूंगा।” उसने बोधिसत्व को प्रणाम कर नगर में जा धर्मानुसार राज्य पर सब कुछ प्राकृतिक अवस्था में कर दिया।

## 5. कामान्ध की मृत्यु के समय में भी काम-चिन्ता

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व आकाश स्थित देवता हुए।

वाराणसी में कार्तिक मास की रात्रि का उत्सव हुआ। नगर देवनगर की तरह सजाया गया। सब लोग उत्सव मनाने में मस्त थे।

एक दरिद्र आदमी के पास केवल एक ही मोटे कपड़े का जोड़ा था। उसने उसे अच्छी तरह धुलवाकर, इस्त्री कराके, उसमें सैकड़ों, हजारों चुनन देकर रखा था।

उसकी भार्या बोली—“स्वामी ! मेरी इच्छा है कि केसर के रंग का एक वस्त्र पहन तेरे गले से लग कार्तिक के उत्सव में विचरूं।”

स्वामी बोला—“भद्रे ! हम दरिद्रों के पास केसर कहां से आयेगा ? शुद्ध वस्त्र पहन कर खेल।”

“केसर रंग न मिलने पर उत्सव न खेलूंगी। तू दूसरी स्त्री लेकर खेल।”

“भद्रे ! मुझे क्यों कष्ट देती है। हम दरिद्रों के पास केसर कहां ?”

“स्वामी ! पुरुष की इच्छा हो तो क्या नहीं होता है ? क्या राजा के केसर-बाग में बहुत केसर नहीं है ?”

“भद्रे ! वह स्थान राक्षसों से सुरक्षित तालाब की तरह बहुत बलवान् आदमियों से सुरक्षित है। वहाँ नहीं जा सकता। तू उसकी इच्छा मत कर। जो है उसी से सन्तुष्ट रह।”

“स्वामी ! रात को अन्धकार होने पर क्या कोई ऐसी जगह है जहाँ आदमी नहीं जा सकता ?”

उसके बार-बार कहने से आसक्ति होने के कारण उसने उसकी बात स्वीकार कर कहा—“अच्छा, भद्रे ! चिन्ता मत कर।”

इस प्रकार उसे आश्वासन दे, रात को, जीवन का मोह छोड़, नगर से निकल, राजा के केसर-बाग पर जा, वहाँ बाड़ को तोड़, बाग में दाखिल हुआ। पहरेदारों ने बाड़ के शब्द को सुन ‘चोर है’ समझ घेर कर पकड़ लिया। फिर गाली दे, पीट, बाँधकर दिन होने पर राजा के पास ले गये। राजा ने आज्ञा दी-जाओ इसे सूली पर चढ़ा दो।

वे उसकी बाहों को पीछे बाँध, वध्यभेरी के बजाते हुए उसे नगर के बाहर ले

गये। और वहाँ सूली पर चढ़ा दिया। बड़ी वेदना हुई। कौवे सिर पर बैठ कर बछी के नोक सदृश चोंच से उसकी आँखें निकालने लगे। वैसे कष्ट को भी भूलकर वह यही सोचता रहा—‘ओह ! मैं घने पुष्प के रंग से रंगे वस्त्र पहने, गले में दोनों हाथ डाले उस स्त्री के साथ कार्तिक रात्रि के उत्सव में न घूम सका।’ इस प्रकार चिन्ता करते हुए यह गाथा कही—

नयिदं दुक्खं अदुं दुक्खं यं मं तुदति वायसो,  
यं सामा पुप्फरत्तेन कत्तिकं नानुभोस्सति ॥

न मैं इसे ही दुःख समझता हूँ, न उसे ही जो कि कौआ मुझे ठोंगे मारता है। मुझे दुःख है तो यह है कि मेरी श्यामा फूल के रंगे वस्त्र से कार्तिक के उत्सव का आनन्द न ले सकेगी।

वह इस प्रकार उस स्त्री के बारे में विलाप करता हुआ ही मरकर नरक में पैदा हुआ।

(जातक-II पृ. 134-136)

## 6. ढोंगी धार्मिक

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व ने चूहे का जन्म ग्रहण किया। बड़े होने पर वह बढ़कर सूअर के बच्चे की तरह हो अनेक सौ चूहों के साथ जंगल में रहने लगा।

इधर-उधर घूमते हुए एक श्रृंगाल ने उस चूहे के समूह को देखकर सोचा कि इन चूहों को ठग कर खाऊंगा। यह सोच वह चूहों के बिल से थोड़ी ही दूर पर सूर्याभिमुख हो, मुंह खोल, हवा पीते हुए की तरह एक ही पांव से खड़ा हुआ।

इधर-उधर भोजन के लिए घूमते हुए बोधिसत्व ने उसे देख सोचा, यह सदाचारी होगा और उसके पास जाकर पूछा—“आपका भन्ते ! क्या नाम है ?”

“मेरा नाम है धार्मिक।”

“चारों पैर पृथ्वी पर न रख, एक ही पैर से क्यों खड़े हैं ?”

“मेरे चारों पैर पृथ्वी पर रखने से पृथ्वी के लिए दूभर होगा, इसलिए एक ही पैर से खड़ा होता हूँ।”

“मुंह खोले क्यों खड़े हैं ?”

“हम हवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं खाते ?”

“सूर्य की ओर मुंह करके क्यों खड़े हैं ?”

“सूर्य को नमस्कार कर रहा हूँ।”

बोधिसत्व ने सोचा यह सदाचारी है। उसके बाद से चूहों के समूह के साथ प्रातः सायं उसकी सेवा में जाने लगा।

उसकी सेवा कर लौटने के समय श्रृंगाल सबसे पिछले चूहे को पकड़कर मांस खाकर निगल कर, मुंह पोछ खड़ा हो जाता। क्रम से चूहों का दल कम पड़ गया। चूहे सोचने लगे कि पहले हमें यह बिल पर्याप्त न होता था, सट-सट कर खड़े होते थे, अब खुल कर खड़े होते हैं तब भी बिल नहीं भरता। क्या मामला है ? उन्होंने बोधिसत्व से सारा हाल कहा।

बोधिसत्व ने ‘चूहे किस कारण कम हो गये’ सोचते हुए श्रृंगाल पर शक किया। फिर जाँच करने के लिए (श्रृंगाल की) सेवा (से लौटने) के समय बाकी चूहों को आगे कर स्वयं पीछे रहा। श्रृंगाल उस पर उछला। अपने को पकड़ने के लिए श्रृंगाल को उछलता देख बोधिसत्व ने रुककर कहा—

“श्रृंगाल ! तेरा यह व्रत धार्मिक नहीं है। तू दूसरों की हिंसा करने के लिए ही धर्म को आगे करके कहता है।” इतना कह यह गाथा कही—

यो वे धम्मं धजं कत्वा निगूलहो पापमाचरे,  
विस्सासयित्वा भूतानि बिलारं नाम तं वतं ॥

जो धर्म की ध्वजा बनाकर, प्राणियों में विश्वास उत्पादन कर छिप कर पाप करता है, उसका व्रत बिल्ला-व्रत है।

चूहों के राजा ने इस प्रकार कहते ही कहते उछलकर उसकी गरदन पर चढ़ ठोड़ी के नीचे की अन्दर की गले की नली को डसकर गले की नली को फाड़ मार डाला। चूहों के दल ने रुक कर श्रृंगाल को मुर-मुर करके खा डाला। पहले आये हुआँ को ही श्रृंगाल का मांस मिला, पीछे आये हुआँ को नहीं मिला। उसके बाद से चूहों का दल निर्भय हो गया।

(जातक II, पृ. 76 to 78)

## 7. धोखाबाजी धार्मिक

पुराने समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व चूहों के राजा हो जंगल में रहते थे ।

एक श्रृंगाल जंगल में आग लगने पर जब भागने में असमर्थ रहा, तो एक वृक्ष से सिर टिकाकर खड़ा हो गया । उसके सारे शरीर के बाल जल गये । वृक्ष से लगे हुए सिर पर शिखा की तरह से कुछ बाल बच गये । उसने एक दिन एक पर्वतीय तालाब में पानी पीते हुए अपनी छाया के साथ शिखा को देखकर सोचा अब मुझे पूंजी मिल गयी । फिर जंगल में घूमते हुए चूहों के बिल को देख 'इन्हें धोखा देकर खाऊंगा' सोच उक्त प्रकार से ही कुछ दूर पर जाकर खड़ा हो गया ।

चारे के लिए घूमते हुए बोधिसत्व ने उसे देखकर सोचा-यह शीलवान है । और पास जाकर पूछा—“तुम्हारा क्या नाम है ?”

“मेरा नाम है अग्नि-भारद्वाज ।”

“तू किस लिए आया है ?”

“तुम्हारी रक्षा करने के लिए ।”

“तू हमारी रक्षा कैसे करेगा ?”

“मैं उंगलियों पर गिनना जानता हूँ । तुम्हारे प्रातःकाल निकल कर भोजन खोजने के लिए जाते समय 'इतने हैं' गिनकर फिर लौटने के समय गिनूंगा । इस प्रकार प्रातः सायं गिनता हुआ रक्षा करूंगा ।”

“अच्छा तो मामा रक्षा कर ।”

उसने स्वीकार कर उनके निकलने के समय एक, दो, तीन गिनकर फिर लौटने के समय उसी तरह गिनकर सबसे अन्तिम चूहे को खाना आरम्भ किया । क्रम से चूहों का दल कम पड़ गया । चूहे सोचने लगे कि पहले हमें यह बिल पर्याप्त न होता था, सट-सट कर खड़े होते थे, अब खुल कर खड़े होते हैं । तब भी बिल नहीं भरता । क्या मामला है ? उन्होंने बोधिसत्व से सारा हाल कहा ।

बोधिसत्व ने 'चूहे किस कारण कम हो गये' सोचते हुए श्रृंगाल पर शक किया । फिर जांच करने के लिए (श्रृंगाल की) सेवा (से लौटने) के समय बाकी चूहों को आगे कर स्वयं पीछे रहा । श्रृंगाल उस पर उछला । अपने को पकड़ने के लिए श्रृंगाल को

उछलता देख चूहों के राजा ने रुक कर कहा —“भो अग्नि भारद्वाज ! तूने यह जो माथे पर शिखा रक्खी है, यह धर्म के लिए नहीं रक्खी । यह पेट के लिए रक्खी है ।” इतना कह यह गाथा कही—

नायं सिखा पुञ्जहेतु धासहेतु अयं सिखा,

नगंडुगणनं याति असं ते हेतु अगिगक ॥

यह शिखा पुण्य के लिये नहीं है, पेट के लिये है । तेरी गणना उंगलियों पर पूरी नहीं उतरती । अगिगक । अब तेरी गणना बस करे ।

(जातक II, पृ. 79 to 80)

## 8. भोगी से भी त्यागी अधिक सुखी

पूर्व-समय वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय, बोधिसत्व ने (एक) प्रसिद्ध महान् कुल में ब्राह्मण हो, जन्म लिया था । भोगों (कामों) में लिप्त रहने के दुष्परिणाम (आदीनव) और वैराग्य में लाभ देखकर भोगों को छोड़, हिमवन्त में प्रवेश कर, वह ऋषि-प्रव्रज्या के अनुसार प्रव्रजित हुए । उन्होंने आठ समापत्तियों को प्राप्त किया । इनके अनुयायी अनेक थे, पांच सौ तो तपस्वी थे । इन्होंने वर्षा-काल आने पर हिमवन्त से निकल, तपस्वियों के गण सहित, ग्राम, नगर (निगम) आदि में घूमते हुए, वाराणसी पहुंच राजा के आश्रित राज उद्यान में वर्षा-वास किया । वहां वर्षा के चारों मास रहकर राजा से (चलने के लिए) पूछा । राजा ने प्रार्थना की—“भन्ते ! आप वृद्ध हैं । आपको हिमवन्त से क्या ? शिष्यों को हिमवन्त भेजकर, आप यहीं रहें ।”

बोधिसत्व ने अपने प्रधान शिष्य को पांच सौ तपस्वी सौंपकर कहा—“जा ! तू उनके साथ हिमवन्त में रह । मैं यहीं रहूंगा ।” (इस प्रकार) उनको चलता कर, आप यहीं रहने लगे । इनका वह प्रधान-शिष्य राज-प्रव्रजित था । उसने बड़े भारी राज्य को छोड़, प्रव्रजित हो कसिण-परिकर्म (योगाभ्यास) कर, आठ समापत्तियां प्राप्त की थीं । हिमवन्त में तपस्वियों के साथ रहते-रहते एक दिन उसने (अपने) आचार्य को देखने की इच्छा से तपस्वियों को बुलाकर कहा—‘तुम उत्कण्ठा रहित हो, यही रहो । मैं आचार्य की वन्दना करके लौटूंगा ।’ और आचार्य के पास जाकर, प्रणाम कर कुशल क्षेम पूछ, एक चटाई फैलाकर, उस पर आचार्य के समीप ही लेटा रहा ।

उस समय राजा तपस्वी को देखने की इच्छा से उद्यान में जाकर, प्रणाम कर, एक ओर बैठा रहा । शिष्य-तपस्वी राजा को देखकर भी (अपने स्थान से) नहीं उठा । लेटा

ही लेटा 'अहो ! सुख ! अहो ! सुख'- इस प्रकार का उदान (प्रीति वाक्य) कहता रहा । राजा ने कहा — 'यह तपस्वी मुझे देखकर भी नहीं उठा है' (सोच) असन्तुष्ट ही बोधिसत्व से कहा— "भन्ते ! मालूम होता है, इस तपस्वी को पेट भर खाने को मिला है । तभी तो 'उदान' कहता हुआ सुख-पूर्वक लेटा है ।" "महाराज ! पहले, यह तपस्वी भी तुम्हारे सदृश एक राजा था ? सो मैंने राज्यश्री का आनन्द लूटते कितने ही शस्त्रधारी पहरेदार मेरी रक्षा करते हैं, तो भी इस प्रकार का सुख अनुभव नहीं किया । (सोच) यह अपने प्रव्रज्या सुख के बारे में इस प्रकार का उदान कह रहा है ।" यह कह बोधिसत्व ने राजा को धर्म-कथा कहने के लिए, यह गाथा कही—

यञ्च अञ्जे न रक्खन्ति यो न अञ्जे न रक्खति,  
स वे राज । सुखं सेति कामेसु अनपेक्खवा ॥

जिसकी न दूसरे रक्षा करते हैं, और जो न दूसरों की रक्षा करता है । राजन् । वही भोगों (कामों) में अपेक्षा-रहित व्यक्ति सुख से सोता है ।

(जातक I पृ. 178)

## 9. औषधमयी विशल्या

(पु. 'आतिमानवीय शक्ति' पृ. सं. 67)

रामायण महायुद्ध में शक्तिशाली विद्याधर रावण ने जब लक्ष्मण को शक्ति प्रहार किया उस शक्ति के माध्यम से लक्ष्मण अत्यन्त घायल होकर मूर्च्छित होकर नीचे गिर गये । अनेक विचार विमर्श के पश्चात् निश्चित हुआ कि यह शक्ति केवल विशल्या से दूर हो सकती है, अतः रामाज्ञा से महान् विद्याधर हनुमान विशल्या को लाने के लिये वायुयान में बैठकर आकाश मार्ग से कुछ ही समय में लंका से अत्यन्त दूरवर्ती अयोध्या पहुंचे । अयोध्या से औषधि की जीवन्त मूर्ति स्वरूप विशल्या को लाकर शक्ति को दूर किया तथा अनेक क्षत-विक्षत सैनिकों की चिकित्सा की-यह वर्णन जैन रामायण पद्मपुराण में रविषेण-आचार्य ने निम्नलिखित किया है—

दूरे लङ्कपुरी देव गन्तुं नार्हति तां विभुः ।  
क्षुब्धोमि जलजो घोरो वर्त्तते सागरोऽन्तरे ॥ 23 ॥

(पद्मपुराण पर्व 65 भाग 2)

हे देव ! लंकापुरी दूर है, वहां जाने के लिये आप समर्थ नहीं हैं, जिसकी लहरें और शंख शोभा को प्राप्त हो रहे हैं, ऐसा भयंकर समुन्द्र बीच में पड़ा है ।

अद्य प्रमथनं नाथ पुण्यं जीवित पालनम् ।

द्रोणमेव सुता स्नान वारिदानं द्रुतंभज ॥ 25 ॥

उन्होंने कहा कि हे नाथ ! द्रोण मेघ की पुत्री का स्नान जल पाप को नष्ट करने वाला, पवित्र और जीवन की रक्षा करने वाला है, सो उसे शीघ्र ही दिलाओ ।

प्रसादं कुरु यास्यामि यावन्नोदेति भास्करः ।

हतोऽरिमथनः शक्त्या दुःखं तिष्ठति लक्ष्मणः ॥ 26 ॥

प्रसाद करो । जब तक सूर्य उदित नहीं होता उसके पहले ही हम चले जायेंगे । शत्रुओं को संहार करने वाले लक्ष्मण शक्ति से घायल ही दुःख में पड़े हैं ।

भरतेन ततोऽवाचि किं वां ग्रहणमम्भसा ।

स्वयं सा सुमगा तत्र यातु द्रोणघनात्मजा ॥ 27 ॥

तब भरत ने कहा कि जल का क्या ले जाना, वह द्रोणमेघ की सुन्दर पुत्री स्वयं ही वहां जावे अर्थात् उसे ही ले जाओ ।

यथा यथा महाभाग्या विशल्या सोपसर्पति ।

तथा तथा भजत्सोम्यं सुमित्रातनयोत्तद्भुतम् ॥ 37 ॥

महाभाग्य शालिनी जैसे-जैसे पास आती जाती थी, वैसे-वैसे लक्ष्मण आश्चर्यकारी सुख दशा को प्राप्त होते जाते थे ।

प्रभा परिकरा शक्तिस्ततो लक्ष्मण वक्षसः ।

चकिता दुष्टयोषेव कामुकात पटिनि सुत ॥ 38 ॥

तदनन्तर जिस प्रकार दुष्ट स्त्री चकित हो पति के घर से निकल जाती है उसी प्रकार क्रान्ति के मण्डल को धारण करने वाली शक्ति लक्ष्मण के वक्षः स्थल से बाहर निकल गई ।

स्फुरत्स्फुलिङ्गज्वाला च लघयन्ते द्रुतं नभः ।

उत्पत्य वायु पुत्रेण गृहीता वेगशालिना ॥ 39 ॥

जिससे तिलंगे और ज्वालाएं निकल रही थीं ऐसी वह शक्ति शीघ्र ही आकाश को लांघती हुई जाने लगी सो वेगशाली हनुमान ने उछलकर उसे पकड़ लिया ।

दिव्य स्त्रीरूप संपन्ना ततः संगतपाणिका ।

सा जगाद हनुमन्तं संभ्रान्ता वद्ववपेथुः ॥ 40 ॥

तब वह दिव्य स्त्री के रूप में परिणत हो हाथ जोड़कर हनुमान से बोली । उस समय वह घबड़ायी हुई तथा उसके शरीर से कंप-कंपी छूट रही थी ।

प्रसीद नाथ मुञ्चस्व न मे दोषोऽस्ति कञ्चन ।

कुत्सितास्मद्विधानां हि प्रेष्याणां स्थितिरीदृशी ॥ 41 ॥

उसने कहा कि हे नाथ ! प्रसन्न होओ, मुझे छोड़ो उसमें मेरा दोष नहीं है, हमारे जैसे सेवकों की ऐसी ही निन्द्य दशा है ।

अमोघ विजया नाम प्रज्ञप्रेरह कं स्वसा ।

विद्यालोकत्रये ख्याता रावणेन प्रसाधिता ॥ 42 ॥

मैं तीनों लोकों में प्रसिद्ध अमोघ-विजय नाम की विद्या हूँ, प्रज्ञाप्ति की बहन हूँ और रावण ने मुझे सिद्ध किया है ।

कैलासपर्वते पूर्वं बालौ प्रतिमया स्थिते ।

सन्निधौ जिनविम्बानां गायता भावितात्मना ॥ 43 ॥

निजे भुजे समुत्कृत्य शिरा तन्त्री मनोहराम् ।

उपवीणयता दिव्यं जिनेन्द्र चरितं शुभम् ॥ 44 ॥

लब्धाऽहं दश वक्त्रेण धरणान्नग राजतः ।

कम्पिता सनतः प्राप्तात्प्रमोदं विभ्रतः परम् ॥ 45 ॥

अनिच्छन्नपयसौ तेन रक्षसां परमेश्वरः ।

मां परिग्राहितः कृच्छ्रात् स हि ग्रहण दुविधः ॥ 46 ॥

कैलाश पर्वत पहले जब बालि मुनि प्रतिमा योग से विराजमान थे, तब रावण ने जिन प्रतिमाओं के समीप भुजा की नाड़ी रूपी मनोहर तन्त्री निकालकर जिनेन्द्र भगवान का दिव्य एवं शुभ चरित वीणा द्वारा गाया था ।

रावण की शक्ति के प्रभाव से धरणेन्द्र का आसन कम्पायमान हुआ था, जिससे परम-प्रमोद को धारण करते हुए उसने वहां आकर रावण के लिये मुझे दिया था । यद्यपि राक्षसों का इन्द्र रावण मुझे नहीं चाहता था तथापि धरणेन्द्र ने प्रेरणा कर बड़ी कठिनाई से मुझे स्वीकृत कराया था । यथार्थ में रावण किसी से वस्तु ग्रहण करने में सदा संकुचित रहता था ।

सादं न कस्यचिच्छवन्त्या भुवनेऽत्र व्ययोहितुम् ।

विशल्या सुन्दरीमेकां मुक्त्वा दुःसह तेजसम् ॥ 47 ॥

वह मैं, इस संसार में दुःसह तेज के धारक एक विशल्या को छोड़ और किसी की पकड़ में नहीं आ सकती ।

मन्ये पराजये देवान् बलिनो नितरामपि ।

अनया तु विकीर्णाहि महत्या दूर गोचरा ॥ 48 ॥

मैं अतिशय बलवान देवों को भी पराजित कर देती हूँ, किन्तु इस विशल्या को छोड़ और किसी की पकड़ में नहीं आ सकती ।

अनुष्णं भास्करं कुर्यादशीतं शशलक्ष्मणम् ।

अनया हि तपोऽत्युग्रं चरितं पूर्वजन्मनि ॥ 49 ॥

यह सूर्य को ठण्डा और चन्द्रमा को गर्म कर सकती है । क्योंकि इसने पूर्व भव में ऐसा ही अत्यन्त कठिन तपश्चरण किया है ।

शिरीषकुसुमा सारं शरीर मनया पुरा ।

निर्युक्त तपसि प्रायो मुनीनामपि दुःसहे ॥ 50 ॥

इसने पूर्वभव में अपना शिरीष के फूल के समान सुकुमार शरीर ऐसे तप में लगाया था कि जो प्रायः मुनियों के लिये भी कठिन था ।

एता वतैव संसारः सुसारः प्रतिभाति मे ।

ईदृशानि प्रसाध्यन्ते यत्तपांसोह जन्तुभिः ॥ 51 ॥

मुझे इतने ही कार्य से संसार सारभूत जान पड़ता है कि इसमें जीवों द्वारा ऐसे-ऐसे कठिन तप सिद्ध किये जाते हैं ।

वर्षा शीता तपैर्धरि महवात सुदुःसहैः ।

एषा न कम्पिता तन्वी मन स्येव चूलिका ॥ 52 ॥

तीव्र वायु से जिनका सहन करना कठिन था ऐसे भयंकर वर्षा शीत और धाम से यह कृशांगी सुमेरु की चूलिका के समान रंच मात्र भी कम्पित नहीं हुई ।

अहो रूपमहोसत्वमहो धर्मदृढं मनः ।

अशक्यं ध्यातु मप्यस्यः सुतपोऽन्याङ्गनाजनैः ॥ 53 ॥

अहो इसका रूप धन्य है, अहो इसका धैर्य धन्य है और अहो धर्म में दृढ़ रहने वाला इसका मन धन्य है । इसने जो तप किया है अन्य स्त्रियां उसका ध्यान भी नहीं कर सकती ।

सर्वथा जिनचन्द्राणां मतेनोद्वृहते तपः ।

लोकत्रये जयत्येकं यस्येदं फलमीदृशम् ॥ 54 ॥

सर्वथा जिनेन्द्र भगवान के मत में ही ऐसा विशाल तप धारण किया जाता है कि जिसका इस प्रकार का फल तीनों लोकों में एक जुदा ही जयवन्त रहता है ।

अथवा नैव विज्ञेयमश्चर्यं मिदमीदृशम् ।

प्राप्यते येन निर्वाणं किमन्यत्तस्य दुष्करम् ॥ 55 ॥

अथवा इसे कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये क्योंकि जिससे मोक्ष प्राप्त हो सकता है उसके लिये और दूसरा कौन कार्य कठिन है ।

पराधीन क्रिया साहं तपसा निर्जितानया ।

व्रजामि स्वं पदं साधो क्षम्यतां दुर्विचेष्टितम् ॥ 56 ॥

मेरा कार्य तो पराधीन है देखिये न इसने मुझे तप से जीत लिया । हे ! सत्पुरुष अब मैं अपने स्थान पर जाती हूँ मेरी दुःचेष्टा क्षमा की जाय ।

एवं कृत समालापां तत्त्वज्ञः शक्तिदेवताम् ।

विसुज्यावस्थितो वातिः स्वसैन्येऽद्भुत चेष्टितः ॥ 57 ॥

इस प्रकार वार्तालाप करने वाली उस शक्ति रूपी देवता को छोड़कर तत्व का जानकार तथा अद्भुत चेष्टा का धारक हनुमान अपनी सेना में स्थित हो गया ।

तप का प्रभाव अचिन्त्य होता है, जैसे अशुद्ध स्वर्ण तपाने पर शुद्ध स्वर्ण बन जाता है और उसकी कान्ति, मूल्य आदि में वृद्धि होती है उसी प्रकार तप के माध्यम से अनेक शक्तियां वृद्धि को प्राप्त होती हैं । विशल्या ने पूर्व भव में अनेक भवों तक अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण कर अनेक वर्ष तक तपस्या की थी, जिसके कारण उसके शरीर के परमाणु विशेष विशुद्धि को प्राप्त कर चमत्कार पूर्ण औषध गुण रूप धरिणित हुए थे । विशल्या के शरीर से स्पर्श वायु, जल आदि से ही हैजा (Colra) कुष्ठ भगंदर ज्वर आदि भयंकर रोग नष्ट हो जाते थे । इतना ही नहीं महान् शक्तिशाली शक्ति भी दूर हो जाती थी ।

## 10. "सती के कारण जुए में जीतना एवं अस्तित्व के कारण हारना"

पूर्व समय में वाराणसी में (राजा) ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय, बोधिसत्व उसकी अग्र पटरानी की कोख से जन्म ग्रहण कर, वयस्क होने पर, सभी शिल्पों में सम्पूर्णता प्राप्त कर, पिता के मरने पर, राज्य पर प्रतिष्ठित हो, धर्मपूर्वक राज्य करने लगा । वह पुरोहित के साथ जुआ खेला करता था, और खेलते-समय इस घूत-गीत (जुए के गीत) को कहकर चांदी के तख्ते पर सोने के पासे फेंकता था—

सब्बा नदी वड्ढगता, सब्बे कट्टमया वना,

सब्बिस्थियो करे पापं, लभमाना निवातके ।

सभी नदियां ठेढ़ी हैं, सभी वनों में लकड़ी हैं, मौका मिलने पर सभी स्त्रियां पाप-कर्म करती हैं ।

इस प्रकार खेलते हुए राजा सदैव जीतता, पुरोहित की हार होती । क्रम से घर की सम्पत्ति नाश होती देख, पुरोहित सोचने लगा—“इस प्रकार तो इस घर का सारा धन नष्ट हो जाएगा, मैं एक ऐसी स्त्री को ढूँढकर घर में रखूँ, जो दूसरे पुरुष के पास न जाये ।” फिर उसे यह ख्याल आया—“मैं किसी ऐसी स्त्री को, जिसने पहले किसी पुरुष को न देखा हो, (संभाल कर) न रख सकूँगा । इसलिए मैं एक स्त्री को उसके गर्भ से आरम्भ करके रख कर, उसकी आयु होने पर, उसे अपने वश में कर, और उसे एक ही पुरुष वाली रख, उसके गिर्द कड़ा पहरा लगा, राजा के कुल से धन ले आऊँगा ।” वह अंक विद्या में होशियार था । सो, उसने एक द्रिद्र गर्भिणी स्त्री को देख ‘लड़की उत्पन्न करेगी’ जान उसे बुला, खर्चा दे, घर में रखा । फिर उसके प्रसूत होने पर उसे धन दे, प्रेरित कर, वह लड़की किन्हीं दूसरे आदमियों को न देखने देकर, स्त्रियों के ही हाथ में दे, उसका लालन-पोषण करा, बड़ी होने पर, उसे अपने वश में कर लिया । जब तक वह लड़की बढ़ती रही, तब तक वह राजा के साथ जुआ नहीं खेला, लेकिन लड़की को अपने वश में कर लेने पर, पुरोहित ने राजा से कहा—‘महाराज ! जुआ खेलें ।’ राजा ने ‘अच्छा’ कह पूर्व प्रकार से ही खेला । पुरोहित ने राजा के गा कर पासा फेंकने के समय कहा—“मेरी माणविका के अतिरिक्त” उस समय से पुरोहित जीतता, राजा की हार होती ।

बोधिसत्व ने सोचा, ‘इसके घर में एक पुरुष वाली एक स्त्री होनी चाहिए ।’

पता लगाने पर 'ऐसी स्त्री है' जान, इसके सदाचार को तुड़वाऊंगा, (सोच) एक धूर्त को बुलाकर पूछा—“पुरोहित की स्त्री का शील तोड़ सकता है ?”

“देव ! तोड़ सकता हूँ ।” सो राजा ने उसे धन दे, 'जल्दी कर' कह भेजा ।

उसने राजा से धन ले, गन्ध, धूप, चूर्ण, कपूर आदि खरीद, उस (पुरोहित) के घर के समीप सब सुगन्धियों की दुकान लगाई । पुरोहित का घर सात तलों का तथा सात इयोढियों वाला था । सभी इयोढियों पर स्त्रियों का ही पहरा था । ब्राह्मण को छोड़कर और कोई आदमी घर में नहीं घुस सकता था । कूड़ा फेंकने की टोकरी भी, देखकर ही अन्दर आने-जाने दी जाती । उस माणविका को केवल वह पुरोहित ही देख सकता था । (हां), उसकी एक स्त्री परिचारिका थी । वह परिचारिका गन्ध, पुष्प, खरीद कर ले जाती हुई, उस धूर्त की दुकान के समीप से ही जाती । उस (धूर्त) ने 'यह उसकी परिचारिका है' अच्छी तरह जान, एक दिन उसे आती देख, दुकान से उठ जाकर, उसके पैरों में गिर, दोनों हाथों से पैरों को जोड़ से पकड़, 'मां ! इतने समय तक तू कहाँ रही, कह, रोना आरम्भ किया ।

शेष लगे हुए धूर्तों ने भी एक ओर खड़े हो कहा—“हाथ, पैर, मुंह की बनावट और रंग-ढंग (आकल्प) से माता-पुत्र एक ही जैसे हैं ।” उनको कहते सुन, उस स्त्री ने अपने में अविश्वास कर, 'यह मेरा पुत्र (ही) होगा' (सोच) स्वयं भी रोना शुरू कर दिया । वे दोनों कांद कर रोकर एक-दूसरे को गले लगाकर खड़े हुए । तब उस धूर्त ने पूछा—“मां ! तू कहां रहती है ?”

“तात ! मैं किन्नर लीला से रहने वाली, श्रेष्ठ सुन्दरी, पुरोहित की तरुण स्त्री की सेवा-सुश्रूषा करती हुई रहती हूँ ।”

“माँ ! अब कहाँ जा रही है ?”

“उसके लिए फूलमाला आदि लेने ।”

“माँ, तुझे और जगह जाने की क्या जरूरत है ? अब से तू मेरे पास से ले जाया कर ।” (कह) बिना मूल्य लिए ही, बहुत से पान-पत्र आदि तथा नाना प्रकार के फूल दिए ।

माणविका ने उसे बहुत से गन्ध-पुरुष आदि लाते देख, पूछा—

“अम्म ! क्या आज हमारा ब्राह्मण प्रसन्न है ?”

“ऐसा क्यों कहती है ?”

“इनकी अधिकता देखकर ।”

“ब्राह्मण ने अधिक मूल्य नहीं दिया, मैं इन्हें अपने पुत्र के पास से लाई हूँ ।”

उस समय से, ब्राह्मण का दिया हुआ मूल्य अपने पास रखकर उसी (पुत्र) के पास से गन्ध, पुष्प आदि ले जाती थी । कुछ दिन व्यतीत होने पर, धूर्त बीमारी का बहाना बना पड़ा रहा । उसने उसकी दुकान के दरवाजे पर जा, उसे न देख, पूछा—

“मेरा पुत्र कहाँ है ?”

“तेरे पुत्र को बीमारी हो गई है ।”

उसने जहाँ वह लेटा हुआ था, वहाँ जाकर, उसकी पीठ मलते हुए पूछा—“तात ! तुझे क्या बीमारी है ?” वह चुप रहा ।

“बेटा ! कहता क्यों नहीं ?”

“माँ प्राण निकलने को आयें, तो भी तुझे नहीं कह सकता ?”

“तात ! यदि मुझसे नहीं कहेगा, तो किससे कहेगा ?”

“माँ ! मुझे और कोई रोग नहीं है । तुझसे उस माणविका (के सौन्दर्य) की प्रशंसा सुन, मैं आसक्त हो गया हूँ । वह मिलेगी, तो जीता रहूँगा, नहीं मिलेगी, तो यही मर जाऊँगा ।”

“तात ! यह भार मुझ पर रहा । तू इसके लिए चिन्ता मत कर” (कह) उसे आश्वासन दे बहुत से गन्ध, फूल आदि ले, माणविका के पास जाकर, उसे कहा—“अम्म ! मुझसे तेरी प्रशंसा सुन मेरा पुत्र (तुझ पर) आसक्त हो गया है ।”

“इस विषय में क्या करूँ ?”

“यदि (उसे) ला सके, तो मेरी ओर से छुट्टी ही है ।”

उसकी बात सुन, वह उस दिन से, उस घर के कोने-कोने से बहुत सा कूड़ा इकट्ठा करके फूल लाने की टोकरी में डाल कर ले जाती, और पहरेदार स्त्री के उस टोकरी को देखने लगने पर (वह कूड़ा) उसके ऊपर फेंक देती । वह घबरा कर दूर हट जाती । (यदि कोई) दूसरी पहरेदार स्त्री कुछ कहती है तो उसके ऊपर भी, वह उसी प्रकार कूड़ा उलट देती । तब से (चाहे) वह कुछ लाती, या ले जाती, कोई उसकी तलाशी (परीक्षा) करने की हिम्मत न करती । सो उस समय, वह उस धूर्त को फूलों की टोकरी में लिटा, माणविका के पास लिवा ले गई । धूर्त माणविका के सतीत्व का नाश कर, एक दो दिन प्रासाद में ही रहा । पुरोहित के बाहर जाने पर, दोनों रमण करते ; उसके आने पर धूर्त छिपा रहता । एक दो दिन के बीतने पर उसने कहा—“स्वामी ! अब तुझे जाना चाहिए ।”

“मैं ब्राह्मण को, एक थप्पड़ मार कर जाना चाहता हूँ।”

“अच्छा ! ऐसा हो” कह, उसने धूर्त को छिपा कर, ब्राह्मण के आने पर कहा—  
“आर्य ! मैं चाहती हूँ कि तुम वीणा बजाओ, और मैं नाचूँ।”

“भद्रे ! अच्छा नाचो” (कह) वह वीणा बजाने लगा।

“तुम्हारे देखते, नाचते लज्जा आती है। तुम्हारा मुँह वस्त्र से बांध (ढक) कर नाचूंगी।

“यदि लज्जा लगती है, तो वैसा कर ले।”

माणविका ने छबा वस्त्र ले, उसकी आँखे ढकते हुए, मुँह पर (कपड़ा) बांध दिया। ब्राह्मण मुँह बंधवा कर वीणा बजाने लगा। उसने थोड़ी देर नाचकर कहा -  
“आर्य ! जी चाहता कि तुम्हारे सिर पर एक थप्पड़ मारूँ।” स्त्री के लोभ में फंसे हुए ब्राह्मण ने, किसी (भीतरी) बात को न जान, कहा— “मार !” माणविका ने धूर्त को इशारा किया। उसने हल्के से आ, ब्राह्मण की पीठ पीछे खड़े हो (उसके) सिर पर, कोहनी से प्रहार दिया। ब्राह्मण की आँखे गिरने वाली सी हो गई। सिर में फोड़ा बन गया। उसने दर्द से पीड़ित होकर कहा — “अपना हाथ ला !” ब्राह्मण तरूणी ने अपना हाथ उठा कर, उसके हाथ में रख दिया। ब्राह्मण बोला — ‘हाथ तो कोमल है। लेकिन प्रहार कड़ा है। ब्राह्मण को मार कर, धूर्त छिपा रहा। धूर्त के छिपा रहने पर, ब्राह्मण तरूणी ने ब्राह्मण के मुँह पर से कपड़ा खोल, तेल लेकर, सिर में चोट जगह पर मला। ब्राह्मण के बाहर जाने पर, उस स्त्री ने फिर, उस धूर्त को टोकरी में लिटाया, और बाहर ले गई। उसने राजा के पास जा, सब हाल कह सुनाया।

राजा ने अपनी सेवा में आये ब्राह्मण को कहा - “(आओ) ब्राह्मण जुआ खेलें।”

“महाराज ! अच्छा।” राजा ने धूर्त मण्डल तैयार करवा, पहली ही तरह से जुएं का गीत गा कर पाँसा फेंका। ब्राह्मण ने माणविका के तप के खण्डन हुए रहने की बात न जानते हुए कहा— “मेरी माणविका के तप के खण्डन हुए रहने की बात न जानते हुए कहा— “मेरी माणविका के अतिरिक्त।” ऐसा कहने पर भी, वह घर ही गया। राजा ने जान कर कहा — “ब्राह्मण ! ‘अतिरिक्त’ क्या कर रहे हो। तुम्हारी माणविका का सतीत्व भ्रष्ट हो गया। तुम समझते थे, कि शुरू गर्भ से (संभाल) कर रखने से, सात जगहों पर पहरा लगा कर रखने से तुम स्त्री को संभाल कर रख सकोगे ? स्त्री को गोद में लेकर, (साथ) लिए फिरने से भी, उसे (संभाल) कर रक्खा नहीं जा सकता। ऐसी कोई स्त्री नहीं है, जो एक ही पुरुष वाली हो। तेरी माणविका ने ‘मैं नाचना चाहती हूँ’ (कह) वीणा बजाते रहने पर तेरा मुँह कपड़े से बाँध, अपने जार को तेरे सिर में कोहनी

से प्रहार देने के लिए प्रेरित किया। अब क्या ‘अतिरिक्त कहते हो ?’ कह, यह गाथा कही —

यं ब्राह्मणो अवादेसी वीणं सम्मुखवेठितो,  
अण्डभूता भता भरिया, तासु को जातु विस्ससे।

जिसके कारण ब्राह्मण ने मुँह पर पट्टी बाँधकर, वीणा बजाई, वह गर्भ से आरम्भ करके पाली गई, भार्या थी। ऐसी स्त्रियों का कौन विश्वास करे।

इस प्रकार बोधिसत्व ने ब्राह्मण को धर्मोपदेश किया ब्राह्मण ने बोधिसत्व का धर्मोपदेश सुन, घर जाकर, माणविका से पूछा— “तूने इस प्रकार का पाप-कर्म किया ?”

“आर्य ! ऐसा किसने कहा ? नहीं किया, प्रहार मैंने ही दिया, किसी और ने नहीं। यदि यह विश्वास नहीं, तो मैं तुम्हें छोड़, किसी दूसरे पुरुष के हस्त-स्पर्श को नहीं जानती।” ऐसी सत्य क्रिया कर अग्नि में प्रविष्ट हो, तुम्हें विश्वास कराऊंगी। ब्राह्मण ने ‘ऐसा हो’ (कह) लकड़ी का बड़ा ढेर लगवा, उसमें आग दे, उसे बुलवाकर कहा— “यदि अपने पर विश्वास है, तो अग्नि में प्रविष्ट हो।”

माणविका ने अपनी परिचायिका को पहले से ही सिखा पढ़ा रक्खा था—  
“अम्म ! तू अपने पुत्र से कह, कि वह मेरे अग्नि-प्रवेश करने के समय, वहाँ जाकर मेरा हाथ पकड़ ले। उसने जाकर वैसा कहा। धूर्त आकर परिषद् के बीच में खड़ा हो गया। ब्राह्मण को ठगने की इच्छा से माणविका ने जन समूह के बीच में खड़े होकर कहा— “ब्राह्मण ! मैं तुझे छोड़ किसी अन्य पुरुष के हस्त-स्पर्श को नहीं जानती हूँ। मेरे इस सत्य (केवल) से, यह अग्नि मुझे न जलाये। यह कह, वह आग में घुसने को तैयार हुई।

उसी क्षण उस धूर्त ने, “देखो ! इस पुरोहित-ब्राह्मण के काम को ; इस प्रकार की माणविका को आग में जलाना (प्रवेश कराना) चाहता है” कहते हुए उस माणविका को हाथ से पकड़ लिया। उसने हाथ छोड़ा पुरोहित से कहा— “आर्य ! मेरी पत्य क्रिया टूट गई। अब मैं आग में प्रवेश नहीं कर सकती। कैसे ? आज मैंने यह सत्य-क्रिया की कि अपने स्वामी को छोड़कर, मैं किसी के हस्त-स्पर्श को नहीं जानती। और, अब मुझे इस आदमी ने हाथ से पकड़ लिया।”

ब्राह्मण जान गया कि इसने मुझे धोखा दिया हो। सो, उसने पीटकर, निकलवा दिया।

यह स्त्रियाँ ऐसी असद्धर्मिणी होती हैं। कितना बड़ा भी पाप-कर्म हो, उसे करके, अपने स्वामी को ठगने के लिए, नहीं मैं ऐसा नहीं करती हूँ, करके प्रतिदिन शपथ

खाती है। इस प्रकार यह अनेक चित्तों वाली होती है। इसीलिए कहा गया है—

चोरीन बहुबुद्धीन यासु सच्चं सुदुल्लभं,  
धीनं भावो दुराजानों मच्छस्सेवोदके गतं ॥  
मुसा तासं यथा सच्चं सच्चं तासं यथा मुसा,  
गावो बहुतिणस्से ओमसन्ति वरं वरं ॥  
चोरियो कठिना हेता वाला चपलसक्खरा,  
न ता किञ्चि न जानन्ति यं मनुस्सेसु वञ्चनं ॥

ऐसी स्त्रियां जो चोर हैं, अतिबुद्धि हैं, जिनमें सत्य का मिलना दुर्लभ है, उनका भाव, जल में गई मछली (के पद-चिन्ह) की तरह दुर्ज्ञेय है। उनको झूठ वैसा ही है, जैसा सत्य (और) उनको सत्य वैसा ही है, जैसा झूठ। वह बहुत तृण के होने पर, गौवों के अच्छा ही अच्छा (खाने की तरह) नये-नये आदमी के साथ रमती है। यह चोर, कठोर, हिंसाप्राणी सदृश चपलता के कंकर सदृश (स्त्रियाँ) मनुष्यों के ठगने की सब विधियों को जानती है।

(जातक I) (पृ. 384-391)

## 11. 'साम, दान, भेद और दण्ड की कथा'

एक वन में कोई बड़ा बुद्धिमान और स्वार्थ साधने में कुशल गीदड़ अपने चार मित्रों—बाघ, चूहा, भेड़िया और नेवले के साथ निवास करता था। एक दिन उन सबने हरिणों के एक सरदार को देखा, जो बड़ा बलवान था। वे सब उसे पकड़ने में सफल न हो सके, अतः सबने मिलकर यह सलाह की।

गीदड़ ने कहा—भाई बाघ ! तुमने वन में इस हरिण को मारने के लिये कई बार यत्न किया, परन्तु यह बड़े वेग से दौड़ने वाला, जवान और बुद्धिमान है, इसलिए पकड़ में नहीं आता। मेरी राय है कि जब यह हरिण सो रहा हो, उस समय यह चूहा इसके दोनों पैरों को काट खाये (फिर कटे हुए पैरों से यह उतना तेज नहीं दौड़ सकता।) उस अवस्था में बाघ उसे पकड़ ले, फिर तो हम सब लोग प्रसन्नचित होकर उसे खायेंगे।

गीदड़ की यह बात सुनकर सबने सावधान होकर वैसा ही किया। चूहे के द्वारा काटे हुए पैरों से लड़खड़ाते हुए मृग को बाघ ने तत्काल मार डाला।

पृथ्वी पर हरिण के शरीर को निश्चेष्ट देखकर गीदड़ ने कहा—'आप लोगों का

भला हो। स्नान करके आइये। तब तक मैं इसकी रखवाली करता हूँ।'

गीदड़ के कहने से वे (बाघ आदि) सब साथी नदी में (नहाने के लिये) चले गये। इधर वह गीदड़ किसी चिंता में निमग्न होकर वहीं खड़ा रहा।

इतने में ही महाबली बाघ स्नान करके सबसे पहले वहां लौट आया। आने पर उसने देखा, गीदड़ का चित्त चिंता से व्याकुल हो रहा है।

तब बाघ ने पूछा—महामते ! क्यों सोच में पड़े हो ? हम लोगों में तुम्हीं सबसे बड़े बुद्धिमान हो। आज इस हरिण का मांस खाकर हम लोग मौज से घूमें-फिरेंगे।

गीदड़ बोला—महाबाहो ! चूहे ने (तुम्हारे विषय में) जो बात कही है, उसे तुम मुझसे सुनो। वह कहता था, मृगों के राजा बाघ के बल को धिक्कार है। आज इस मृग को तो मैंने मारा है।

मेरे बाहुबल का आश्रय लेकर आज वह अपनी भूख बुझायेगा' उसने इस प्रकार गरज-गरजकर (घमंडभरी) बातें कही हैं, अतः उसकी सहायता से प्राप्त हुए इस भोजन को ग्रहण करना मुझे अच्छा नहीं लगता।

बाघ ने कहा—यदि वह ऐसी बात कहता है, तब तो उसने इस समय मेरी आँखें खोल दीं-मुझे सचेत कर दिया। आज से मैं अपने ही बाहुबल के भरोसे वन जन्तुओं का वध किया करूँगा और उन्हीं का मांस खाऊँगा।

यों कहकर बाघ वन में चला गया। इसी समय चूहा भी (नहा-धोकर) वहाँ आ पहुँचा। उसे आया देख गीदड़ ने कहा।

गीदड़ बोला—चूहा भाई ! तुम्हारा भला हो। नेवले ने यहां जो बात कही, उसे सुन लो।

वह कह रहा था कि बाघ के काटने से इस हरिण का मांस जहरीला हो गया है, मैं तो इसे खाऊँगा नहीं, क्योंकि यह मुझे पसंद नहीं है। यदि तुम्हारी अनुमति हो तो मैं चूहे को ही खा लूँ।

यह बात सुनकर चूहा अत्यन्त भयभीत होकर बिल में घुस गया। राजन ! तत्पश्चात् भेड़िया भी वहां स्नान करके वहाँ आ पहुँचा।

उसके आने पर गीदड़ ने कहा—'भेड़िया भाई ! आज बाघ तुम पर बहुत नाराज हो गया है, अतः तुम्हारी खैर नहीं, वह अभी बाघिन को साथ लेकर वहाँ आ रहा है।' गीदड़ के इस प्रकार कहने पर कच्चा माँस खानेवाला वह भेड़िया दुम दबाकर भाग गया। इतने में नेवला भी वहाँ आ पहुँचा।

उस नेवले से गीदड़ ने इस प्रकार कहा—‘ओ नेवले ! मैंने अपने बाहुबल का आश्रय लें, उन सबको परास्त कर दिया। वे हार मानकर अन्यत्र चले गये। यदि हिम्मत हो तो पहले मुझसे लड़ ले। फिर इच्छानुसार माँस खाना।’

जब बाघ, भेड़िया और बुद्धिमान चूहा-ये सभी वीर तुमसे परास्त हो गये, तब तो तुम वीर शिरोमणि हो। मैं भी तुम्हारे साथ युद्ध नहीं कर सकता। यों कहकर नेवला भी चला गया।

इस प्रकार उन सबके चले जाने पर अपनी युक्ति में सफल हो जाने के कारण गीदड़ का हृदय हर्ष से खिल उठा। तब उसने अकेले ही वह माँस खाया।

(महाभारत-प्रथम खण्ड)

(पृ. 424-426)

## 12. विमान निर्माता प्रद्युम्न कुमार

श्रीकृष्ण के पुण्यशाली महातेजस्वी सद्यजात प्रद्युम्न कुमार दैवात् अपहरण हो गया, परन्तु पुण्य श्लोका प्रद्युम्न कुमार का पालन पोषण, शिक्षा-दीक्षा, ज्ञान-विज्ञान, विद्या आदि का प्रशिक्षण विद्याधरों के देश में हुआ। जब प्रद्युम्न कुमार ज्ञान विज्ञान में पक्ष होने के साथ-साथ युवावस्था को प्राप्त हुआ तब आकाश में स्वच्छन्द विचरण करने वाले नारद मुनि प्रद्युम्न कुमार के पास पहुँचे। कथोपकथन के सिलसिले से प्रद्युम्न कुमार को अपना पूर्ण परिचय प्राप्त हुआ, उसके उपरान्त द्वारिका वापस होने का मार्ग उपाय एवं दूरी के बारे में जिज्ञासा की। प्रद्युम्न विनय के साथ बोला—हे तात ! मुझे बतलाना कि यहां से द्वारिका कितनी दूर है। तब नारद ने कहा कि यह तो विद्याधरों का देश है और वह द्वारिका नगरी मनुष्यों की नगरी है। इसलिए बहुत दूर है। कुमार ने कहा यदि वह दूर है तो हे तात वहाँ तक कैसे चला जाएगा ? नारद जी बोले हे वत्स ! मैं तुम्हें शीघ्रगामी विमान पर बैठाकर बहुत वेग से ले जाऊंगा। प्रद्युम्न ने कहा यदि ऐसा है तो उस वेगगामी विमान को जल्दी तैयार करो, जल्दी सजाओ। कुमार के वचनों से सन्तुष्ट होकर नारद जी ने एक बड़ा भारी, सुन्दर कल्याणकारी और शीघ्रगामी विमान बनाकर तैयार कर दिया और कहा, हे वत्स ! यह विमान तुम्हारे योग्य बना है सो इस पर जल्दी से बैठ जाओ जिससे हम तुम दोनों रुक्मिणी के पास पहुंच जावें। नारद के वचनों से प्रसन्न होकर कुमार ने कहा, तात क्या आपका यह विमान मुझे बिठाने के लिए समर्थ है। तब नारद जी मुस्कुराकर बोले, हाँ तुम्हारे लिए तो बहुत मजबूत है। तुम शीघ्र ही बैठ जाओ और यह सुनकर कामदेव ने उस पर बड़े ही जोर

से पांव रख दिया। जिससे उसकी सब संधियां टूट गयीं सैकड़ों छिद्र हो गये। यह कौतुक करके नीति चतुर कुमार बोला-धन्य हैं ! धन्य हैं ! आप तो शिल्प विज्ञान कला में बड़े ही प्रवीण हैं। हे विभो ! आपने यह विद्या किसके पास सीखी थी सचमुच इस संसार में आपके समान शिल्पकार न तो हुआ है, और न आगे होगा। मैंने तो आज से अच्छी तरह जान लिया है कि जगत में नारद ऋषि के समान विद्यालय सहित विज्ञानी कोई भी नहीं। कुमार के परिहास से लज्जित होकर बुद्धिमान नारद बोले, मैं तो वृद्ध हो गया हूँ, मेरे जरायुक्त शरीर में चतुराई कहाँ से आई ? तुम तो सब विद्या में कुशल हो। सम्पूर्ण विज्ञान के ज्ञाता हो और नवीन यौवन, सम्पन्न हो। तुम क्या-क्या जानते ? हे वत्स, अब तुम्हीं विमान बनाओ। जिससे शीघ्रता से चले। व्यर्थ ही क्यों समय खो रहे हो तुम्हारी माता तुम्हारे लिए बहुत दुःखी हो रही हैं। व्रतधारी नारद के लिए प्रद्युम्न कुमार ने अपने यशोराशि के समान (सफेद) एक विस्मयकारी विमान शीघ्र बना दिया। उस विमान में बड़े-बड़े घण्टे लटक रहे थे। अनेक ध्वजाएँ उड़ रही थीं और पचरंगे उत्तमोत्तम रत्नों से बना हुआ उसका कूट (शिखर) शोभित होता था। उसका मध्य भाग (कटि) किनारे सिंहासन सोने के रचे गये थे। इसके सिवाय वह विमान बड़ी तालाब आदि के समूहों से शोभित किया गया था। हंस चक्रवादिक पक्षियों से युक्त या केला सुपारी ताड़ आदि वृक्षों से अलंकृत था। चँवरों घुंघुघु तथा नाना प्रकार के बड़े वादित्तों से शोभित था और किकणी की ध्वनि से रमणीय था। उसकी खिड़कियों में तथा दूसरे स्थानों में मोतियों की झालरें लटक रही थीं और इन सब सामग्रियों से वह दूसरे स्वर्गलोक के समान मालूम होता था। इस प्रकार सुन्दर वेगगामी विमान को बनाकर सारभूत विज्ञान को जानने वाले प्रद्युम्न कुमार ने नारद जी से कहा—हे तात ! यदि यह आपके योग्य हो तो इस पर बैठ जाइये क्योंकि मैंने इसे बलबुद्धि से बनाया है। ऐसा कहने पर नारद जी ने उस अतिशय सुन्दर विमान को देखा जो कि पुण्यहीनों को प्राप्त होना बहुत कठिन है। उससे उन्हें बड़ा अचम्भा हुआ। निदान जब वे विमान में बैठ गये तब कुमार ने उसे धीरे-धीरे आकाश पर चढ़ाया, परन्तु आगे कुमार के कुटिल (हास्यरूप) आश्चर्ययुक्त होने से जब विमान की गति मंद हो गयी और उस नारद ने देखा तब वे बोले-तेरी माता का मुख-कमल तेरे वियोग रूपी तुषार से अक्रान्त हो रहा है। सो तुझे तेरे वियोग रूपी सूर्य के समान जाकर मुरझाने से बचाना चाहिए। तब कुमार माता से मिलने के लिए विमान को अति तीव्र गति से संचालन करके माता के पास जा पहुँचे।

प्राचीनकाल में सामान्य लोग सामान्य परिस्थिति में यातायात करने के लिए सामान्य यान-वाहन तथा शकट (बैलगाड़ी), हाथी, घोड़ा आदि से चालित रथ तथा

हाथी, घोड़ा, ऊंट आदि का प्रचलन था। विशेष परिस्थिति में दूर-वेगागमन युद्ध, वरयात्रा जिनाभिषेक के समय सूर्य, चन्द्र ग्रह, नक्षत्र आदि को उल्लंघन करके सुमेरू तक जाने रूप यात्रा आदि में विशिष्ट-यान वाहन का प्रयोग होता था। जैन पुराण में वर्णित है कि नारायण श्रीकृष्ण द्रौपदी का उद्धार करने के लिए लवण महासमुद्र को अतिक्रम करके एक विशेष रथ के माध्यम से जो कि जल, स्थल, आकाश में भी गमन करने के लिये समर्थ या धातकीखण्डद्वीप पहुंचे थे। लवण समुद्र की चौड़ाई 2 लाख योजन अर्थात् 180000000 मील (8 x 10<sup>8</sup>) है।

एक विशेष वायुयान पहले गमनागमन के लिये प्रयोग में आता था। जिसका नाम पुष्पक विमान है। वह इच्छा मात्र से मन्त्र तथा विद्या शक्ति से निर्माण होता था। एक-एक विमान इतना विशाल होता था कि उसमें अनेक भवन-उपवन, कूप, तड़ाग (पुष्करणी) की रचना होती थी। पुष्पक विमान विशेष करके उत्तम उत्तम धातु, सोना, चाँदी, रत्न वैदूर्य आदि से निर्माण होता था। एक-एक विमान लक्ष्यावधि मनुष्य, अस्त्र-शस्त्र तथा अनेक हाथी घोड़ा वहन करके तीव्र गति से आकाश में लक्ष्य बिन्दु की ओर उड़ने के लिए समर्थ था। यह पुष्पक विमान सुरक्षित स्थान में रखा जाता था। विमान मालिक बहुत दूर या नजदीक जहाँ भी होते थे, वहाँ से पुष्पक विमान को संकल्प मात्र से बुलाने के लिए समर्थ थे। आवश्यकतानुसार पुष्पक विमान को निश्चित स्थान पर भेज भी सकते थे। वर्तमान में आकाश-गमन के लिए अनेकानेक उत्तम-उत्तम वायुयान तैयार हो चुके हैं, और हो रहे हैं और होने वाले भी हैं। बिना चालक अस्त्रवाही-युद्ध वायुयान तथा परग्रह यात्री राकेट का भी आविष्कार हो गया है तथा वे स्व-स्व कार्यरत हैं। परन्तु एक महत्वपूर्ण अचिन्तनीय विषय यह है कि कोई भी यन्त्र या यान-वाहन अथवा वायुयान केवल इच्छा मात्र से परिचालित नहीं होता है। आधुनिक व्यक्ति सोच सकता है कि इच्छा मात्र से यानादि परिचालित नहीं हो सकते हैं, परन्तु यथार्थ से सत्य-सत्य तथ्य ऐसे नहीं हैं, जिस समय वायुयान (ऐरोप्लेन) रेडियो, टेलीफोन, बेतार के तार (वायरलेस) कम्प्यूटर आदि का शोध-बोध नहीं हुआ था। उस समय साधारण व्यक्ति उपरोक्त विषय में सोच भी नहीं सकते थे। उनके लिये यह सब एक स्वप्नराज कपोलकल्पित अतिशयोक्ति था, परन्तु पुरुषार्थी, दृढ़, निश्चयी अनुसन्धित्वादि आविष्कारक कल्पना को साकार कर देने वाले वैज्ञानिक लोगों ने उपरोक्त चीजों का निर्माण करके दुनिया के सामने सत्य सिद्ध कर दिया। इसी प्रकार अपनी अज्ञानता तथा कूप-मण्डूकता के कारण जिसको असत्य मानते हैं वह असत्य नहीं होकर सत्य भी हो सकता है। आध्यात्मिक शक्ति, मानसिक शक्ति, मन्त्र शक्ति, विद्या शक्ति के माध्यम से कैसे विचित्र पूर्ण अमानविक कष्टसाध्य कार्य सम्पादन हो सकता है

उसके बारे में अवगत करने के लिए पाठकवृन्द मेरे द्वारा रचित ऋद्धि, मन्त्र, विद्या, तन्त्र आदि विषय का सूक्ष्म अध्ययन करें।

(धर्म दर्शन एवं विज्ञान, पृ. 144-146)

### 13. प्राचीन काल में आकाश गमन की प्रतियोगिता

प्राचीन काल में पुष्करार्थ द्वीप में पश्चिम विदेह में विजयार्थ पर्वत श्रेणी में अज्जिय नामक नगर में स्थित अजित सेना रानी से एक उत्तम पुत्री का जन्म हुआ। उस कन्या का नाम प्रीतिमती था और वह अनेक ज्ञान, विज्ञान, कला कौशल मण्डित थी। आकाशगामिनी विद्या में अत्यन्त निपुण थी। अनेक विद्या वैभव से सम्पन्न होते हुए भी जल-से भिन्न कमल के सदृश संसार रूपी भोगों से अत्यन्त वैराग्य पूर्ण थी। विवाह बंधन में बंधने के लिए अत्यन्त निरुत्साह थी। इसलिए दीक्षा धारण करने के लिये विभिन्न सुयोग्य शोध करती थी। इसलिए एक दिन वह अपने पिताजी से प्रार्थना करती है कि हे पिताजी! मुझे मनोवांछित वर दीजिए। यह सुनकर पिताजी उसकी मनोगत भावना को जानकर प्रत्युत्तर देते हैं कि तप की आज्ञा के अलावा अन्य मनोवांछित वर मांगो। अर्थात् दीक्षा लेने की आज्ञा मत माँगना। तब कन्या कहती है—हे पिताजी! मुझे तो तप करने की बहुत इच्छा है और यदि आप इसके लिए आज्ञा नहीं देते हैं तो जो आकाशगमन प्रतियोगिता में जीतेगा वही मेरा पति बनेगा। अज्जियम राजा ने यह प्रतिज्ञा स्वीकार कर ली। राजा ने सब विद्याधरों का आह्वान करके सम्बोधित किया कि हे विद्याधरों! गति युद्ध में जो विजयी होगा उसे मैं अपनी पुत्री प्रदान करूँगा। जो सुमेरू की प्रदक्षिणा करके तथा जिनेन्द्र भगवान की पूजा करके कन्या से पहले आकर मुझे आसिका देगा वह ही प्रतियोगिता में विजयी होगा और मेरी कन्या का वर होगा। यह प्रतिज्ञा सुनकर सब विद्याधर विद्याधरकुमारी को विद्या में अधिक निष्णात जानकर विद्या देखने के लिए वहाँ एकत्रित हुए।

इस समय राजा सूर्य प्रभु और धारणी रानी के पुत्र चिन्तागति, मनगति, चपलगति तीनों पुत्र कटिबद्ध होकर गमन के लिए उद्यत हुए। तीनों भाई स्वशक्ति अनुसार कन्या को प्राप्त करने के लिये तीव्र गति से गमन करने लगे। परन्तु कन्या ने अत्यन्त तीव्र गति से तीनों का उल्लंघन करके सुमेरू पर्वत की प्रदक्षिणा देकर भद्रशाल वन में स्थित जिन-बिम्ब की पूजा करके शीघ्र ही लौटकर पिताजी को प्रणाम करके आसिका समर्पित की। उस समय कन्या पसीने रूपी मुक्त, हार से सुसज्जित थी अर्थात् पसीने से लिप्त थी। तब राजा ने समस्त राजाओं के समक्ष अपनी पुत्री को विजय का प्रमाण पत्र

दिया। और पुत्री को संसार रूपी भोगों से विरक्त जानकर तपस्या धारण करने की आज्ञा दे दी। तब उसने निवृत्त नामक आर्यिका साध्वी के पास व्रतों को स्वीकार करके दीक्षा धारण किया तथा गमन प्रतियोगिता में पराजित होकर चिन्तागति आदि तीनों भाईयों ने मुनि दीक्षा धारण कर ली।

प्राचीनकाल में मन्त्र विद्या और वायुयान के माध्यम से मनुष्य तथा विशेषकर विद्याधर लोग आकाश गमन में बहुत ही दक्ष थे। समय-समय पर आकाश गमन प्रतियोगिताएं भी होती थीं। और जो लक्ष्यस्थल पर सर्वप्रथम पहुंचता था, वही प्रतियोगिता में जयमुक्त (विजयी) होता था। कुछ राजकुमारियाँ वर वरण करने के लिए आकाश गमन प्रतियोगिता को प्रतिज्ञा रूप में घोषित करती थीं। जो योग्य पुरुष इस प्रतियोगिता में विजयी होता था, उसे कन्या वर रूप में स्वीकार करती थीं। उपरोक्त उदाहरण में जो प्रतियोगिता का वर्णन है, उस प्रतियोगिता की दूरी बहुत ही अधिक है। विजयार्थ से प्रायः सुमेरू पर्वत की दूरी 49474 योजन है। तथा सुमेरू के नीचे का व्यास 10,000 योजन है। दोनों मिलकर 59474 योजन है। महायोजन 4000 मील है अर्थात् कुल दूरी 237896000 मील होगी अर्थात् तेईस करोड़ अष्टतर लाख छियानवे हजार मील। प्रतियोगिता के लिए प्रतियोगी इतनी ही दूर जाएगा और इतनी ही दूर वापिस आएगा। इसलिए प्रायः 47,57,92000 मील गमन करना होगा। इस दूरी को बहुत ही कम समय में प्रतियोगी पार करके लक्ष्य स्थल तक पहुंचता है जिसे वर्तमान अति द्रुतगामी राकेट के माध्यम से भी अति-क्रम करने के लिए असमर्थ होगा। इस उदाहरण से विज्ञ पाठक प्राचीनकालीन द्रुतगामी, वायुयान, विद्या, मन्त्र के बारे में यत्किञ्चित् सिंहावलोकन कर सकते हैं।

(धर्म दर्शन और विज्ञान, पृ. 152-154)

## 14. आकाशगामी प्रतियोगिता

विजयार्थ के उत्तर श्रेणी में स्थित भोगकर के राजा वायुरथ तथा रानी स्वयं प्रभावती पुत्री हुई। प्रभावती ज्ञान, विज्ञान, कला तथा आकाशगामी कला में अत्यंत पारंगत थी। यौवन अवस्था आने पर उसकी सुन्दरता मनमोहकारी हुई। पिता वायुरथ ने स्वयंवर के लिए राजकुमारों को निमन्त्रण दिया। प्रभावती ने किसी भी राजकुमार को वर्णमाला प्रदान करने में अपनी स्वीकृति नहीं दी। उसने अपनी प्रतिज्ञा अपनी सखी को ही बताया। जब प्रभावती ने वर्णमाला से किसी को भी स्वीकार नहीं किया

तो उसके माता-पिता ने उसकी सखी से इसका कारण पूछा। तब सखी ने कारण बताते हुए कहा—

कन्या ने प्रतिज्ञा की है कि जो मुझे गतियुद्ध में जीवेगा, मैं उसी के गले में माला डालूंगी। यह सुनकर राजा ने उस दिन सबको यथायोग्य कहकर विदा किया।

दूसरे दिन राजा ने स्वयंवर की घोषणा कराकर कहा कि 'एक माला सिद्ध-कूट नामक चैत्यालय के द्वार से नीचे छोड़ी जाएगी' जो कोई विद्याधर माला छोड़ने के बाद महासुमेरू पर्वत की तीन प्रदक्षिणाएं देकर प्रभावती से पहले उसे जमीन पर गिरने से पहले ही ले लेगा, वही इसका पति होगा। यह सुनकर बहुत से विद्याधरों ने प्रयत्न किया, परन्तु पूर्वोक्त प्रकार से माला न ला सके। इसलिए प्रभावती से हारकर लज्जित होकर चले गए। सो ठीक ही है क्योंकि मृत्यु भी स्वाभिमानी लोगों के मानभङ्ग की बराबरी नहीं कर सकती।

तदनन्तर गतियुद्ध करने में चतुर हिरण्य वर्मा आया और उससे हारकर प्रभावती ने वह माला उसके गले में डाल दी।

इस उदाहरण में आकाशगामिनी शक्ति का स्पष्ट सूक्ष्म गणितिक वर्णन है। सुमेरू का व्यास 10 हजार योजन है तथा महायोजन 2000 कोस या 4,000 मील के बराबर होता है। इसलिए सुमेरू का व्यास  $4 \times 10^7$  मील होता है। परिधि व्यास के कुछ अधिक तीन गुणा अर्थात्  $2\pi r = \pi D$  होता है इसलिए सुमेरू की परिधि  $4 \times 10^7 \times 22/7 = 88/7 \times 10^7 = 125714285.5/7$  मील और परिधि की तीन बार परिक्रमा अर्थात् इस परिधि की तीन गुणा अधिक दूरी। सुमेरू की ऊंचाई 99,000 महायोजन है। जो 39,60,00,000 मील होता है। वैज्ञानिक सिद्धांत है कि आकार कम एवं घनत्व अधिक होने पर वस्तु तीव्र गति से नीचे गिरती है। रत्न एक भारी वस्तु है इसलिए रत्न ऊपर से तीव्रगति से नीचे गिरता है, इस प्रतियोगिता में निश्चित है कि एक रत्न हार सुमेरू के ऊपर स्थित सिद्धकूट चैत्यालय से गिराने के बाद जो पूर्वोक्त सुमेरू की तीन बार प्रदक्षिणा करते हार गिरने के पहले हार को पकड़ता है, वही प्रतियोगिता में विजयी होगा पाठकगण उपरोक्त गणित से सहज ही पता लगा सकते हैं कि विजयी की गति कितनी तीव्रतम होगी। उपरोक्त विषय को कपोल कल्पित एवं अतिशयोक्ति मानना उचित नहीं होगा। उपरोक्त उदाहरण से सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल में विज्ञान अत्यन्त उन्नतशील था जिसके सौभाग्य से प्राचीनकालीन विद्याधर तथा विद्याधारी इस प्रकार के चमत्कारी कार्य करने में समर्थ रहते थे। जिस समय राइट बर्दर्स (Right Brothers) ने यन्त्र के माध्यम से ऐसे यन्त्र का आविष्कार किया जिससे मनुष्य भी आकाश में पक्षी के समान तीव्र गति से

उड़ सकता है तब तत्कालीन अनेक मनुष्यों ने भद्रा परिहास व्यंग्य करके उनको पागल जैसा समझा क्योंकि उन लोगों को आकाशगामी विद्या यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र आदि का परिज्ञान नहीं था। परन्तु आज मनुष्य पक्षी के समान आकाश में उड़ रहे हैं तथा भू पृष्ठ को छोड़कर अन्य ग्रहों को भी गमन करते हैं। यह सुनकर तथा देखकर किसी को भी अविश्वास, आश्चर्य एवं असम्भव सा प्रतीत नहीं होता क्योंकि आज आकाश में गमन करने योग्य साधनों को वह स्वयं देख रहा है, अनुभव कर रहा है तथा प्रयोग में ला रहा है। इसी प्रकार प्राचीन मानव अपने यंत्र, मंत्र, तंत्र आदि विद्या शक्तियों के माध्यम से कार्य साधना करते थे, इसलिए उनके लिए उपरोक्त विषय अविश्वसनीय न होकर विश्वसनीय था।

(धर्म दर्शन और विज्ञान, पृ. 154-156)

## 15. प्राचीनकालीन जल यन्त्र एवं जल क्रीड़ा

महान् शक्तिशालीन क्षत्रिय कुलीन राक्षस ने वंशीय विद्याधर रावण दिग्विजय के लिये 'सीमा' सहित आकाश मार्ग में प्रयाण किया। स्वशक्ति से अनेक देशों की सहज रूप से विजय करता हुआ वह भारत की नर्मदा नदी के तट पर आ पहुँचा। तदनन्तर रावण ने नर्मदा नदी देखी। नर्मदा मधुर शब्द करने वाली नाना पक्षियों के समूह के साथ मानों अत्याधिक वार्तालाप ही कर रही थी। फेन के समूह से वह ऐसी जान पड़ती थी मानो हंस रही हो उसका जल शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल था और वह हाथियों से सुशोभित थी। वह नर्मदा तरंग रूपी भृकुटों के विलास से युक्त थी, आवृत्त रूपी नाभि से सहित थी, तैरती हुई मछलियां ही उसके नेत्र थे, दोनों विशाल तट ही स्थूल नितम्ब थे, नाना फूलों से वह व्याप्त थी और निर्मल जल ही उसका वस्त्र था। इस प्रकार किसी उत्तम नायिका के समान नर्मदा को देखकर रावण महाप्रीति को प्राप्त हुआ। वह नर्मदा कहीं तो उग्र मगरमच्छों के समूह से व्याप्त होने के कारण गम्भीर थी, कहीं वेग से बहती थी, कहीं मन्द गति से बहती थी, कहीं कुण्डल की तरह टेढ़ी-मेढ़ी चाल से बहती थी। नाना चेष्टाओं से भरी हुई थी तथा भयंकर होने पर भी रमणीय थी। जिसका चित्त कौतुक से व्याप्त था, ऐसे रावण ने बड़े आदर के साथ उस नर्मदा नदी में प्रवेश किया। अथानन्तर जो अपने बल से पृथ्वी पर प्रसिद्ध था ऐसा माहिष्मती का राजा सहस्वरश्मि भी उसी समय अन्य दिशा से नर्मदा में प्रविष्ट हुआ। यह सहस्वरश्मि यथार्थ में परम् सुन्दर था क्योंकि उत्कृष्ट कान्ति को धारण करने वाली हजारों स्त्रियां उसके साथ थीं।

उसने उत्कृष्ट कलाकारों के द्वारा नाना प्रकार के जलयन्त्र बनवाये थे सो उन सबका आश्रय कर आश्चर्य को उत्पन्न करने वाला सहस्वरश्मि नर्मदा में उतरकर नाना प्रकार की क्रीड़ा कर रहा था।

उसके साथ यन्त्र निर्माण को जानने वाले ऐसे अनेक मनुष्य थे जो समुद्र का भी जल रोकने में समर्थ थे। फिर नदी की तो बात ही क्या थी। इस प्रकार अपनी इच्छानुसार वह नर्मदा में भ्रमण कर रहा था।

यन्त्रों के प्रयोग से नर्मदा का जल क्षण-भर में रूक गया था, इसलिये नाना प्रकार की क्रीड़ा में निपुण स्त्रियां उसके तट पर भ्रमण कर रही थीं।

उन स्त्रियों के अत्यन्त पतले और उज्ज्वल वस्त्र जल का सम्बन्ध पाकर उनके नितम्ब स्थलों से एकदम श्लिष्ट हो गये थे इसलिये जब पति उनकी ओर आँख उठाकर देखता था, तब वे लज्जा से गड़ जाती थीं।

शरीर का लेप धुल जाने के कारण जो नरवक्षतों से चिह्नित स्तन दिखला रही थीं ऐसी कोई एक स्त्री अपनी सौत के लिए ईर्ष्या उत्पन्न कर रही थी। जिसके समस्त अंग दिख रहे थे ऐसी कोई उत्तम स्त्री लजाती हुई दोनों हाथों से बड़ी आकुलता से पति की ओर पानी उछाल रही थी। कोई अन्य स्त्री सौत के नितम्ब स्थल पर नरवक्षत देखकर क्रीड़ा कमल की नाल से पति पर प्रहार कर रही थी कोई एक स्वभाव की कोधीनी स्त्री मौन लेकर निश्चल खड़ी रह गयी थी। तब पति ने चरणों में प्रणाम कर उसे किसी तरह सन्तुष्ट किया। राजा सहस्वरश्मि जब तक एक स्त्री को प्रसन्न करता था तब तक दूसरी स्त्री रोष को प्राप्त हो जाती थी। इस कारण वह समस्त स्त्रियों को बड़ी कठिनाई से सन्तुष्ट कर सका था उत्तमोत्तम स्त्रियों से घिरा मनोहर रूप का धारक वह राजा किसी स्त्री की ओर देखकर किसी का स्पर्श कर, किसी के प्रति कोप-प्रकट कर, किसी के प्रति अनेक प्रकार की प्रसन्नता प्रकट कर, किसी को प्रणाम कर, किसी के ऊपर पानी उछाल कर, किसी को कर्णाभरण से ताड़ित कर, किसी का धोखे से वस्त्र खींचकर, किसी को मेखला से बांधकर, किसी के पास से दूर हटकर, किसी को भारी डांट दिखाकर, किसी के साथ सम्पर्क कर, किसी के स्तनों में कम्पन उत्पन्न कर, किसी के साथ हंसकर, किसी के आभूषण गिराकर, किसी को गुदगुदाकर, किसी के प्रति भौंहें चलाकर, किसी से छिपकर, किसी के समक्ष प्रकट होकर तथा किसी के साथ अन्य प्रकार के विभ्रम दिखा कर नर्मदा नदी में बड़े आनन्द से उस तरह क्रीड़ा कर रहा था जिस प्रकार की देवियों के साथ इन्द्र क्रीड़ा किया करता है। उदार हृदय को धारण करने वाली इन स्त्रियों के जो आभूषण बालू के ऊपर गिर गये थे, उन्होंने निर्माल्य की माला के समान फिर उन्हें उठाने की चेष्टा नहीं की थी। किसी स्त्री ने चन्दन के लेप से

पानी को सफेद कर दिया था तो किसी ने केशर के द्रव से उसे स्वर्ण के समान पीला बना दिया था, जिनकी पान की लालिमा धुल गयी थी ऐसे स्त्रियों के हों तथा जिनका काजल छूट गया था ऐसे नेत्रों की कोई अद्भुत ही शोभा दृष्टिगोचर हो रही थी।

तदनन्तर यन्त्र के द्वारा छोड़े हुए जल के बीच में वह राजा, काम उत्पन्न करने वाली अनेक उत्कृष्ट स्त्रियों के साथ इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगा।

उस समय तट के समीपवर्ती जल में विचरन करने वाले पक्षी मनोहर शब्द कर रहे थे तो ऐसा जान पड़ता था मानो जल के भीतर क्रीड़ा करने वाली स्त्रियों ने अपने शब्द उसके पास धरोहर ही रख दिये हों। उधर यह सब चल रहा था, इधर रावण ने भी सुखपूर्वक स्नान कर धुले हुए उत्तम वस्त्र पहने और अपने मस्तक को बड़ी सावधानी से सफेद वस्त्र से युक्त किया।

जिसे नियुक्त मनुष्य सदा बड़ी सावधानी से साथ लिये रहते थे ऐसी स्वर्ण तथा रत्ननिर्मित अर्हन्त भगवान को रावण ने नदी के उस तीर पर स्थापित कराया।

जो नदी के बीच नया निकला था, मनोहर था, सफेद तथा देदीप्यमान था, बालू के द्वारा निर्मित ऊंचे चबूतरे से सुशोभित था, जहां वैदूर्यमणि की छड़ियों पर चन्दोवा तानकर उस पर मोतियों की झालर लटकायी गयी थी और जो सब प्रकार के उपकरण इकट्ठे करने में व्यग्र परिजनों से भरा था।

प्रतिमा स्थापित कर उसने भारी सुगन्धि से भ्रमरों के आकर्षित करने वाले धूप, चन्दन, पुष्प तथा मनोहर नेवैद्य के द्वारा बड़ी पूजा की ओर सामने बैठकर चिरकार तक स्तुति के पवित्र अक्षरों से अपने मुख को सहित किया।

अथानान्तर रावण पूजा में निमग्न था कि अचानक ही उसकी पूजा-सब ओर से फेन तथा बबूलों से युक्त, मलिन एवं वेगशाली जल के पूर से नष्ट हो गयी।

तब रावण ने शीघ्र ही प्रतिमा ऊपर उठाकर कुपित हो लोगों से कहा कि मालूम करो क्या बात है? तदनन्तर लोगों ने वेग से जाकर और वापस लौटकर निवेदन किया कि हे नाथ! आभूषणों से परम अभ्युदय को प्रकट करने वाला कोई मनुष्य सुन्दर स्त्रियों के बीच बैठा है। तलवार को धारण करने वाले मनुष्य दूर खड़े रहकर उसे धो रहे हैं।

नाना प्रकार के बड़े-बड़े यन्त्र उसके पास विद्यमान हैं, निश्चय ही यह कार्य उन सब यन्त्रों का किया हुआ है।

हमारा ध्यान है कि उसके जो पुरुष हैं वे तो व्यवस्था मात्र के लिए हैं यथार्थ में उसका जो बल है वही दूसरों के लिए दुःख से सहन करने योग्य है। लोक कथा में

सुना जाता है कि स्वर्ग में अथवा सुमेरू पर्वत पर इन्द्र नाम का कोई व्यक्ति रहता है पर हमने तो यह साक्षात् ही इन्द्र देखा है। उसी समय रावण ने वीणा, बांसुरी आदि से सुर तथा जय-जय शब्द से निश्चित मृदंग का शब्द सुना। सुनते ही उसकी भौंहें चढ़ गयीं। उसी समय उसने राजाओं को आज्ञा दी कि इस दुष्ट को शीघ्र ही पकड़ा जाय। आज्ञा देकर रावण फिर नदी के किनारे रत्न तथा सुवर्ण निर्मित पुष्पों से जिन प्रतिमा की स्तम्भ पूजा करने लगा। विद्याधर राजाओं ने रावण की आज्ञा शेषाक्षत के समान मस्तक पर धारण की और तैयार हो वे शीघ्र ही शत्रु के सम्मुख दौड़ पड़े। तदनन्तर रत्न रत्न को आया देख सहस्वरश्मि क्षण-भर में क्षुब्ध हो गया और स्त्रियों को अभय देकर शीघ्र ही जलाशय से बाहर निकल पड़ा। जिस प्रकार बसन्त आदि ऋतुएं समीपचल के पास एक साथ आ पहुंचती हैं, उसी प्रकार नाना तरह के शस्त्रों को धारण करने वाले बहुत भारी अनुराग से भरे सामन्त हाथियों, घोड़ों और रथों पर सवार हो तथा पैदल चलने वाले सैनिकों से युक्त थे।

(धर्म दर्शन और विज्ञान, पृ. 156-160)

## 16. आकृति में धर्म कृति में अधर्म

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व पक्षी की शक्ति में उत्पन्न हो, बड़े होने पर पक्षियों के झुण्ड के साथ समुद्र में एक द्वीप पर रहते थे। कुछ काशी राष्ट्रवासी व्यापारी दिशाकाल ले जहाज से समुद्र में उतरे। समुद्र में उतरते ही जहाज टूट गया। उस कौवे ने उस द्वीप में पहुंच सोचा-यह पक्षियों का महान झुण्ड है, उसे डोंग करके इनके अण्डे तथा बच्चे समय पर खाने चाहियें।

वह पक्षियों के झुण्ड में उतर कर, चोंच खोल, पृथ्वी पर एक पांव से खड़ा हुआ। पक्षियों ने पूछा—

“स्वामी ! तुम्हारा क्या नाम है ?”

“मेरा नाम धार्मिक है।”

“एक पांव से क्यों खड़े हो ?”

“मेरे दूसरा पांव रखने पर पृथ्वी भार सहन नहीं कर पायेगी।”

“और चोंच खोले क्यों खड़े हो ?”

“मैं और कुछ नहीं खाता, केवल हवा खाता हूँ।”

इस प्रकार उत्तर दे, उसने उन पक्षियों को सम्बोधित कर “मैं तुम्हें उपदेश देता

हूँ, सुनो" कह उपदेश देते हुए पहली गाथा कही—

धम्मं चरथ आतयो धम्मं चरथ भदं वो,  
धम्मचारी सुखं सेति अस्मि लोके परमिह च ॥

रिश्तेदारी ! धर्म करो । धर्म करो, भला होगा । धर्मचारी इस लोक तथा परलाक में सुख से सोता है । पक्षियों ने यह नहीं समझा कि यह कौवा अण्डे खाने के लिये इस प्रकार बात बना रहा है । उन्होंने उस दुष्शील को प्रशंसा करते हुए दूसरी गाथा कही—

भद्रको वतंय पक्खी दिजो परमधम्मिको,  
एकपादेन तिडुन्तो धम्ममेवानुसासति ॥

यह पक्षी भद्र है । यह द्विज परम-धार्मिक है । एक पांव से खड़ा होकर धर्म का ही उपदेश देता है । पक्षियों ने उस दुराचारी में श्रद्धावान हो कहा—स्वामी ! आप और कुछ शिकार ग्रहण नहीं करते, हवा ही खाते हैं । तो हमारे अण्डे और बच्चों की देखभाल करें । वे स्वयं चुगने चले जाते । वह पापी उनकी अनुपस्थिति में उनके अण्डे-बच्चे पेट भर खा उनके आने के समय शान्त-आकृति बना, चोंच खोल एक पांव से खड़ा हो जाता । पक्षी आते और बच्चों को न देख बड़े जोर से चिल्लाते—इन्हें कौन खा जाता है ? उस कौवे को धार्मिक समझ उस पर तनिक शक न करते ।

एक दिन बोधिसत्व ने सौँचा-यहां पहले कोई खतरा नहीं था । इसके आने के समय से ही पैदा हुआ । इसकी जांच करनी चाहिये । वह पक्षियों के साथ चुगने जाने जैसा हो, लौटकर छिपे स्थान पर खड़ा रहा ।

कौवे ने भी जब पक्षियों को गया समझा तो उठा और जाकर अण्डे बच्चे खा, लौटकर चोंच खोल एक पांव से खड़ा हो गया । पक्षिराज ने पक्षियों के आने पर सभी को इकट्ठा कर कहा—मैंने बच्चों के खतरे की जांच करते हुए इस पापी कौवे को उन्हें खाते देखा । आज इसे पकड़ें । उसने सभी पक्षियों को आज्ञा दी-यदि भागे तो धर दबाना । यह कह शेष गाथाएं कही—

नास्स सीलं विजानाथ अनञ्जाय पसंसथ,  
भुत्वा अण्डच छापे च धम्मो धम्मोति भासति ॥  
अञ्जं भणति वाचाय अञ्जं कायेन कुब्बति,  
वाचाय नो च कायेन न तं धम्मं अधिट्ठितो ॥  
वाचाय सीखलो मनोविदुग्गो,  
धन्नो कृपसयोव कण्डसयो

धम्मधजो गामीनगमासु साधुसस्मतो,  
दुज्जानो पुरिसेन बालिसेन ॥  
इमं तुण्डेहि पक्खेहि मादायिम विहेठथू,  
छवं हिमं विनासेच नायं संवासनारहो ॥

इसके स्वभाव को नहीं जानते हो । बिना जाने प्रशंसा करते हो । यह अण्डों तथा बच्चों को खाकर 'धर्म धर्म' कहता है । वाणी से दूसरी बात कहता है, शरीर से दूसरी बात करता है ।

यह वाणी से ही धर्म में स्थित है, शरीर से नहीं । वाणी का कोमल, किन्तु मन दुः प्रवेश्य, वैसा ही छिपा हुआ जैसे बिल में सोया हुआ काला सर्प । ऐसा धर्मध्वजी, जो ग्राम-निगम आदि में 'धर्मात्मा' प्रसिद्ध होता है किसी मूर्ख पुरुष द्वारा नहीं पहचाना जाता है । इसे चोंच से तथा पैरों से मारो । इस दुष्ट को नष्ट कर डालो । यह साथ रहने योग्य नहीं है ।

यह कह पक्षिराज ने स्वयं ही उछल कर उसके सिर पर ठोंग मारी । शेष पक्षियों ने चोंच, नख, पैर तथा पंखों से प्रहार किया । वह वहीं मर गया ।

(जातक III, पृष्ठ 422)

## 17. रानी पति को मरवा कर मंत्र ले सकती थी

पूर्व समय में वाराणसी में सेनक नाम के राजा के राज्य करते समय बोधिसत्व शक्रत्व को प्राप्त हुआ । उस समय सेनक राजा की एक नागराजा के साथ मित्रता थी । वह नाग-राज नाग भवन से निकल भूमि पर शिकार पकड़ता फिरता था गांव के लड़कों ने उसे देख 'यह सर्प है' ढेलों तथा डण्डों से पीटा । राजा ने क्रीड़ा के लिये उद्यान जाते समय देखकर पूछा यह लड़के क्या कर रहे हैं ? जब सुना कि एक सर्प को मार रहे हैं तो 'मारने मत दो, इन्हें भगा दो' कह उन्हें भगवा दिया ।

नाग-राज जीवित रह नाग-भवन गया । वहाँ से बहुत से रत्न ले आधी रात के समय राजा के शयनागार में घुस, वह रत्न दे, 'मेरी जान तुम्हारे ही कारण बची' कह राजा के साथ मैत्री स्थापित की । वह बार-बार जाकर राजा से भेंट करता था । उसने अपनी नाग-कन्याओं में से एक काम-भोगों में अतृप्त कन्या को राजा की सेवा में रहने के लिये नियुक्त किया और राजा को एक मंत्र दिया कि जब उसे न देखे, तब उस मंत्र को जपे । एक दिन राजा ने उद्यान में पहुंच नाग कन्या को साथ पुष्करिणी में जल-क्रीड़ा

की। नाग कन्या ने एक जल सर्प देखा तो रूप बदल कर उसके साथ अनौचित्य का सेवन किया राजा ने जब उसे नहीं देखा तो सोचा-कहां गई ?

राजा ने उसे बांस की चपटी से मारा। वह क्रोधित हो वहां से नाग-भवन पहुंची। क्यों लौट आई ? पूछने पर बोली तुम्हारे मित्र ने जब देखा कि मैं उसका कहना नहीं करती हूँ तो उसने मुझे पीठ पर मारा। उसने पीठ की चोट दिखाई। नागराज ने बिना सच्ची बात जाने ही चार नाग-तणों को बुलाकर भेजा-जाओ, सेनक के शयनागार में घुस फुंकार से ही उसे भूसे की तरह जला दो। वे राजा के सोने के समय उसके शयनागार में प्रविष्ट हुए। उनके प्रवेश करने के समय ही राजा देवी से बोला-भद्रे ! मालूम है नाग-कन्या कहां गई ?

“देव ! नहीं जानती हूँ।”

“आज जिस समय हम पुष्करिणी में जल क्रीड़ा कर रहे थे। उसने एक उदक-सर्प के साथ अनाचार किया। मैंने उसे ‘ऐसा न करे’ शिक्षा देने के लिये बांस की चपटी से मारा मुझे डर लगता है कि वह नाग-भवन जाकर मेरे मित्र को और कुछ कह कर हमारी मैत्री तोड़ेगी।”

यह सुन नाग-तरुण वहीं से लौट पड़े और नाग-भवन पहुंच उन्होंने राजा से वह समाचार कहा। उसके मन में संवेग उत्पन्न हुआ। वह इसी क्षण राजा के शयनागार में पहुंचा और वह बात कह क्षमा मांगी। फिर उसने राजा को ‘सबकी बोली जानने का मंत्र’ दिया और कहा कि यह मेरा जुर्माना है, साथ ही यह भी कहा कि यह मंत्र अति मूल्यवान है, यदि किसी और को देगा तो आग में जलकर मरेगा। राजा ने ‘अच्छा’ कह स्वीकार किया।

तब से वह चींटियों की बातचीत भी समझ सकता था। एक दिन वह महान् तल्ले पर बैठा हुआ मधु-खाण्ड के साथ भोजन कर रहा था। खाते खाते मधु की एक बून्द, खाण्ड की एक बून्द तथा पुए का एक टुकड़ा भूमि पर गिर पड़ा। एक चींटी उसे देख चिल्लाती घूमती थी-राजा के महान् तल्ले पर शहद की मटकी फूट गई, खाण्ड की गाड़ी और पूओं की माड़ी उलट पड़ी, शहद, खाण्ड तथा पुए खाओ राजा उसकी आवाज सुन कर हंसा। राजा के पास खड़ी देवी ने सोचा-राजा क्या देखकर हंसा।

फिर शाम को जब राजा भोजन कर रहा था, भात का एक दाना जमीन पर गिर पड़ा। चींटियां चिल्लाई-राज-कुल में भात की गाड़ी टूट कर बिखर गई। भात खाओ। यह सुन राजा फिर हंसा। देवी सोने की कड़खली लिये राजा को परोस रही थी। वह सोचने लगी कि मुझे देखकर राजा हंसता है। उसने राजा के साथ शैय्या पर

लेटने के समय पूछ-देव क्यों हंसे ? वह बोला-मेरे हंसने के कारण से तुझे क्या ? लेकिन फिर ज़िद करने पर कह दिया।

तब वह बोली-आप जो मन्त्र जानते हैं, वह मुझे दें। “नहीं दे सकता हूँ” कह इनकार करने पर भी बार-बार ज़िद करने लगी। राजा बोला—यदि मैं यह मन्त्र तुझे दूंगा तो मैं मर जाऊंगा।

“देव ! मर भी जाये तो भी मुझे दें।”

राजा ने स्त्री के वशीभूत हो ‘अच्छा’ कह स्वीकार कर लिया और सोचा इसे मन्त्र से अग्नि में प्रविष्ट हो जाऊंगा। वह रथ पर चढ़ उद्यान गया।

उस समय शक्र ने संसार पर नजर डालते हुए यह बात देखी। उसने सोचा-मूर्ख राजा स्त्री के लिये आग में जल मरने जा रहा है। मैं इसकी जान बचाऊंगा। उसने ‘सुजा’ नाम की असुर कन्या को लिया और वाराणसी में प्रविष्ट हुआ। वह बकरी बनी और शक्र स्वयं बकरा। शक्र ने ऐसा संकल्प किया कि जनता उन्हें न देखे और वे रथ के आगे हो लिये। उस बकरे को राजा और उसके रथ के घोड़े देखते थे और कोई नहीं देखता था।

बकरे ने बातचीत पैदा करने के लिए ऐसा आकार बनाया जैसे बकरी के साथ मैथुन करने जा रहा हो। रथ में जुते एक घोड़े ने उसे देखा तो बोला—मित्र बकरे ! हमने पहले सुना था कि बकरे मूर्ख होते हैं, निर्लज्ज होते हैं, लेकिन देखा नहीं था। तू छिपकर करने योग्य अनाचार को हमारी इतने जनों की नजर के सामने ही करत है। जो हमने पहले सुना था, उसका यह जो देखने हैं, उससे मेल खाता है। उसने पहली गाथा कहा—

सच्चं किये वमाहंसु मस्तं वालोति, पण्डिता,

पस्स बालो रहो कम्मं आवी कुब्बं न बुज्झति ॥

पण्डितों ने सच ही कहा है कि बकरा मूर्ख होता है। देखो ! यह मूर्ख छिपकर करने योग्य कर्म को प्रकट रूप में नहीं करना चाहिये, नहीं जानता यह सुनकर बकरे ने दो गाथाएं कहीं—

त्वमं नुखो सम्म बालोसि खरपुत्त विजानहि,

रज्जुगहि परिकिखतो वकोटठो ओहितो मुखो ॥

अपरमि सम्म ते वाल्यं यो मुत्तो न पलायसि,

सो च बालतरो सम्म यं त्वं वहसि ऐनक ॥

हे गर्दभ-पुत्र ! यह समझ कि तू भी मूर्ख है, जो रस्सियों से बंधा है, टेढ़े होंठ हैं और नीचे मुंह है तथा यह तेरी और भी मूर्खता है जो मुक्त होने पर भागता नहीं है । और तुझ से बढ़कर मूर्ख यह सेनक राजा है, जिसे तू रथ में खींचता है ।

राजा उन दोनों की बात समझता था, इसलिये उसे सुनते हुए उसने धीरे-धीरे रथ हांका । घोड़े ने भी बात सुन चौथी गाथा कही—

यन्नु सम्म अहं बालो अजराज विजानहि,

अथ केन सेनको बालो तं मे अक्खहि पुच्छितो ॥

हे अजराज ! जिस कारण से मैं मूर्ख हूँ, वह तू जानः लेकिन मैं पूछता हूँ—बता कि सेनक क्यों मूर्ख है ? यह कहते हुए बकरे ने पांचवी गाथा कही—

उत्तमत्थं लभित्वान भरियाय यो पदरसति,

तेन जहिरसततांन सा चेवरस न हेस्सति ॥

जो उत्तम-वस्तु को प्राप्त करके भार्या को दे देगा । जिससे उसकी अपनी मृत्यु होगी और वह भी उसकी न रहेगी ।

राजा ने उसकी बात सुनकर कहा—अजराज ! तू ही हमारा कल्याण करेगा । हमें बता कि हमें क्या करना चाहिये ?

“महाराज ! प्राणी के लिये अपने आप से बढ़कर प्रियतर कुछ नहीं है । एक प्रिय-वस्तु के लिये अपना विनाश करना या प्राप्त यश को छोड़ना उचित नहीं ।”

उसने छठी गाथा कही—

नवे पियम्पेति जनिन्द तादिसो

अतं निरंकत्वा पियानि सेवति,

अत्ताव सेय्यो परमाव सेय्या

लब्भा पिया ओचितत्थेन पच्छा ॥

हे जनिन्द ! तुम्हारे सदृश आदमी 'यह मुझे प्रिय है' ऐसा समझ यदि उसके लिये अपनी जान दे देता है तो वह उस प्रिय-वस्तु का सेवन नहीं करता । अपना-आप ही श्रेष्ठ है, परं श्रेष्ठ है । उचित उपाय से प्रिय-वस्तुओं की प्राप्ति पीछे भी हो जाती है ।

इस प्रकार बोधिसत्व ने राजा को उपदेश दिया । राजा ने प्रसन्न हो पूछा—अजराज ! कहां से आया ?

“महाराज ! मैं शक्र हूँ, तुम पर दया करके तुम्हें मृत्यु से मुक्त करने के लिये आया हूँ ।”

“देवराज ! मैंने इसे वचन दिया है कि तुझे मन्त्र दूंगा । अब क्या करूँ ?”

“महाराज ! तुम्हारे दोनों के नाश को प्राप्त होने की जरूरत नहीं ।”

“यह मन्त्र शिल्प सीखने की तैयारी है” कह इसे कुछ थप्पड़ लगवाइये । तब यह नहीं ग्रहण करेगी ।

राजा ने 'अच्छ' कह स्वीकार किया । बोधिसत्व राजा को उपदेश दे अपने स्थान ही को गया । राजा ने उद्यान पहुंच देवी को बुलाकर कहा—“भद्रे ! मन्त्र लेगी ?”

“देव ! हां ।”

“तो तैयारी करता हूँ ।”

“क्या तैयारी ?”

“पीठ पर सौ कोड़े पड़ने पर भी मुंह से आवाज नहीं निकालनी होगी ।” उसने मंत्र लोभ से अच्छा कह दिया । राजा ने जल्लाद को बुलाकर दोनों ओर चाबुक लगवाये । वह दो तीन चाबुक लगने के बाद बोली—

“मुझे मन्त्र नहीं चाहिये ।”

तब राजा बोला—तू तो मुझे मार कर भी मन्त्र लेना चाहती थी ।” उसने उसकी कमर की चमड़ी उधड़वा कर छोड़ी । उसके बाद फिर वह कुछ नहीं बोल सकी ।

(जातक III पृष्ठ 429)

## 18. 'महाभारत की रचना'

सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यास ने अपनी तपस्या एवं ब्रह्मचर्य की शक्ति से सनातन वेद का विस्तार करके इस लोक-पावन पवित्र इतिहास का निर्माण किया है । प्रशस्त व्रतधारी, निग्रहानुग्रह-समर्थ, सर्वज्ञ पराशरनन्दन ब्रह्मर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन इस इतिहासशिरोमणि महाभारत की रचना करके यह विचार करने लगे कि अब शिष्यों को इस ग्रन्थ का अध्ययन कैसे कराऊँ ? जनता में इसका प्रचार कैसे हो ? द्वैपायन ऋषि का यह विचार जानकर लोक-गुरु भगवान् ब्रह्मा उन महात्मा की प्रसन्नता तथा लोककल्याण की कामना से स्वयं ही व्यासजी के आश्रम पर पधारे ।

व्यासजी ब्रह्माजी को देखकर आश्चर्यचकित रह गये । उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और खड़े रहे । फिर सावधान होकर सब ऋषि-मुनियों के साथ उन्होंने

ब्रह्माजी के लिए-आसन की व्यवस्था की। जब उस श्रेष्ठ आसन पर ब्रह्माजी विराज गये, तब व्यास जी ने उनकी परिक्रमा की और ब्रह्माजी के आसन के समीप ही विनयपूर्वक खड़े हो गये। परमेष्ठी ब्रह्माजी की आज्ञा से वे उनके आसन के पास ही बैठ गये। उस समय व्यासजी के हृदय में आनन्द का समुद्र उमड़ रहा था और मुख पर मन्द-मन्द पवित्र मुस्कान लहरा रही थी।

परम तेजस्वी व्यासजी ने परमेष्ठी ब्रह्माजी से निवेदन किया—भगवान् ! मैंने यह सम्पूर्ण लोकों से अत्यन्त पूजित एक महाकाव्य की रचना की है। ब्रह्मन् ! मैंने इस महाकाव्य में सम्पूर्ण वेदों का गुप्ततम रहस्य तथा अन्य सब शास्त्रों का सार-सार संकलित करके स्थापित कर दिया है। केवल वेदों का ही नहीं, उनके अङ्ग एवं उपनिषदों का भी इसमें विस्तार से वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में इतिहास और पुराणों का मन्थन करके उनका प्रशस्त रूप प्रकट किया गया है। भूत, वर्तमान और भविष्य काल की इन तीनों संज्ञाओं का भी वर्णन हुआ है। दिव्य नगर एवं दुर्गों के निर्माण का कौशल तथा युद्ध की निपुणता का भी वर्णन है। भिन्न-भिन्न भाषाओं और जातियों की जो विशेषताएँ हैं, लोक व्यवहार की सिद्धि के लिये जो कुछ आवश्यक है तथा और भी जितने लोकोपयोगी पदार्थ हो सकते हैं, उन सबका इसमें प्रतिपादन किया गया है, परन्तु मुझे इस बात की चिन्ता है कि पृथ्वी में इस ग्रन्थ को लिख सके ऐसा कोई नहीं है।

ब्रह्माजी ने कहा—व्यासजी ! संसार में विशिष्ट तपस्या और विशिष्ट कुल के कारण जितने भी श्रेष्ठ ऋषि हैं, उनमें मैं तुम्हें सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ, क्योंकि तुम जगत्, जीव और ईश्वर-तत्त्व का जो ज्ञान है, उसके ज्ञाता हो। मैं जानता हूँ कि आजीवन तुम्हारी ब्रह्मवादिनी वाणी सत्य भाषण करती रही है और तुमने रचना को काव्य कहा है, इसलिए अब यह काव्य के नाम से ही प्रसिद्ध होगा। ब्रह्माजी व्यासजी से इस प्रकार सम्भाषण करके अपने धाम ब्रह्मलोक में चले गये।

तदनन्तर सत्यवती नन्दन व्यास जी ने भगवान् गणेश का स्मरण किया और स्मरण करते ही भक्तवाञ्छाकल्पतरु विघ्नेश्वर श्री गणेशजी महाराज वहाँ आए, जहाँ व्यासजी विराजमान थे। व्यासजी ने गणेशजी का बड़े आदर और प्रेम से स्वागत-सत्कार किया और वे जब बैठ गये, तब उनसे कहा—

(पृष्ठ 275 जातक III)

लेखको भारतस्यास्य भव त्वं गणनायक ।

मयैव प्रोच्यमानस्य मनसा कल्पितस्य च । (77) ।

गणनायक ! आप मेरे द्वारा निर्मित इस महाभारत ग्रन्थ के लेखक बन जाइये, मैं बोलकर लिखाता जाऊंगा। मैंने मन ही मन इसकी रचना कर ली है।

श्रुत्वैतत् प्राह विघ्नेशो यदि मे लेखनी क्षणम् ।

लिखतो नावतिष्ठेत तदा स्यां लेखको ह्याहम् । (78) ।

यह सुनकर विघ्नराज श्री गणेशजी ने कहा—‘व्यासजी ! यदि लिखते समय क्षण भर के लिये मेरी लेखनी न रुके तो मैं इस ग्रन्थ का लेखक बन सकता हूँ।

व्यासोऽप्युवाच नं देवमबुद्ध्वा मा लिख कचित् ।

ओमित्युत्तवा गणेशोऽपि वभूव किल लेखकः । (79) ।

व्यास जी ने भी गणेश जी से कहा—‘बिना समझे किसी भी प्रसंग में एक अक्षर भी न लिखियेगा।’ गणेश जी ने कहकर स्वीकार किया और लेखक बन गये।

ग्रन्थग्रन्थि तदा चक्रे मुनिर्गूढ कुतूहलात् ।

यस्मिन् प्रतिज्ञया प्राह मुनिर्द्वैपायनस्त्विदम् । (80) ।

तब व्यास जी भी कुतूहलवश ग्रन्थ में गांठ लगाने। वे ऐसे-ऐसे श्लोक बोल देते जिनका अर्थ बाहर से दूसरा मालूम पड़ता और भीतर कुछ और होता। इसके सम्बन्ध में प्रतिज्ञा पूर्वक श्रीकृष्णद्वैपायन मुनि ने यह बात कही है—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।

अहं वेद्यि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा । (81) ।

इस ग्रन्थ में 8800 आठ हजार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं, जिनका अर्थ मैं समझता हूँ, शुक्रदेव समझते हैं और संजय समझते हैं या नहीं, इसमें संदेह है।

तच्छ्लोककूटमद्यपि ग्रन्थितं सुद्ध सुदृढं मुने ।

भेतुं न शक्यतेऽर्थस्म गूढत्वात् प्रश्रितस्म च ॥ (82) ।

मुनिवर ! वे कूटश्लोक इतने गुथे हुए और गम्भीरार्थक हैं कि आज भी उनका रहस्यभेदन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनका अर्थ भी गूढ़ है और शब्द भी योगवृत्ति और रूढ़वृत्ति आदि रचनावैचित्र्य कारण गम्भीर है।

सर्वज्ञोऽपि गणेशो यत् क्षणमास्ते विचारयन् ।

तावच्चकार व्यासोऽपि श्लोकानन्यान् बहूनपि । (83) ।

स्वयं सर्वज्ञ गणेशजी भी उन श्लोकों का किचार करते समय क्षण भर के लिए ठहर जाते थे। इतने-समय में व्यासजी भी और बहुत से श्लोकों की रचना कर लेते थे।

अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्म तु विचेष्टतः ।

ज्ञानाजनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥ (84) ।

धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः ।

तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः ॥ (85) ।

संसारी जीव अज्ञानान्धकार से अंधे होकर छटपटा रहे हैं। यह महाभारत ज्ञानाजन की शलाका लगाकर उनकी आँख खोल देता है। वह शलाका क्या है? धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थों का संक्षेप और विस्तार से वर्णन। यह न केवल अज्ञान की रतौंधी दूर करता, प्रत्युक्त सूर्य के समान उदित होकर मनुष्यों की आंख के सामने का सम्पूर्ण अन्धकार ही नष्ट कर देता है।

(पृष्ठ-5 श्री महाभारते, आदिपर्वणि प्रथम अध्याय)

## 19. गुरु का आज्ञाकारी शिष्य — १

प्राचीनकाल में आयोदधौम्य नाम से प्रसिद्ध एक महर्षि था। उनके तीन शिष्य हुए-उपमन्यु, आरुणि पाञ्चाल तथा वेदी। एक दिन उपाध्याय ने अपने एक शिष्य पाञ्चाल देशवासी आरुणि को खेत पर भेजा और कहा—“वत्स! जाओ, क्यारियों की टूटी हुई मेड़ बांध दो।” उपाध्याय के इस प्रकार आदेश देने पर पाञ्चाल देशवासी आरुणि वहां जाकर उस धान की क्यारी की मेड़ बांधने लगा, परन्तु बांध न सका। मेड़ बांधने के प्रयत्न में ही परिश्रम करते-करते उसे एक उपाय सूझ गया और वह मन ही मन बोल उठा—अच्छा ऐसा ही करूं। वह क्यारी की टूटी हुई मेड़ की जगह स्वयं ही लेट गया। उसके लेट जाने पर वहां का बहता हुआ जल रूक गया। फिर कुछ काल के पश्चात् उपाध्याय आयोदधौम्य ने अपने शिष्यों से पूछा—‘पाञ्चाल निवासी आरुणि कहां चला गया?’ शिष्यों ने उत्तर दिया—‘भगवन्! आप ही ने तो उसे यह कहकर भेजा था कि ‘जाओ, क्यारी की टूटी हुई मेड़ बांध दो।’ शिष्यों के ऐसा कहने पर उपाध्याय ने उनसे कहा—‘तो चलो, हम सब लोग वहीं चले, जहां आरुणि गया है। वहां जाकर उपाध्याय ने उसे आने की आवाज दी—‘पाञ्चाल निवासी आरुणि। कहां हो वत्स! यहां आओ’। उपाध्याय का यह वचन सुनकर आरुणि पाञ्चाल सहसा उस क्यारी की मेड़ से उठा और उपाध्याय के समीप आकर खड़ा हो गया। फिर उनसे विनयपूर्वक बोला—‘भगवन्! मैं यहाँ हूँ, क्यारी की टूटी हुई मेड़ से निकलते हुए अनिवार्य जल को रोकने के लिए स्वयं ही लेट गया था। इस समय आप की आवाज सुनते ही सहसा उस मेड़ को विदीर्ण करके आपके पास आ खड़ा हुआ। मैं आपके

चरणों में प्रणाम करता हूँ, आप आज्ञा दीजिए, मैं कौन-सा कार्य करूँ?’ आरुणि के ऐसा कहने पर उपाध्याय ने उत्तर दिया—‘तुम क्यारी के मेड़ को निर्दीर्ण करके उठे हो, अतः इस उछलनकर्म के कारण उछालक नाम से ही प्रसिद्ध होओगे। ऐसा कहकर उपाध्याय ने आरुणि को अनुगृहित किया। साथ ही यह भी कहा कि, ‘तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया है, इसलिए तुम कल्याण के भागी होओगे। सम्पूर्ण वेद और समस्त धर्मशास्त्र तुम्हारी बुद्धि में स्वयं प्रकाशित हो जाएंगे।’ उपाध्याय के इस प्रकार आशीर्वाद देने पर आरुणि कृत-कृत्य हो अपने अभीष्ट देश को चला गया।

(पृष्ठ 48 महाभारत आदिपर्वणि अध्याय 3)

## 20. गुरु का आज्ञाकारी शिष्य — २

आयोदधौम्य उपाध्याय का उपमन्यु नामक दूसरा शिष्य था। उसे उपाध्याय ने आदेश दिया, ‘वत्स उपमन्यु! तुम गौओं की रक्षा करो। उपाध्याय की आज्ञा से उपमन्यु गौओं की रक्षा करने लगा। वह दिनभर गौओं की रक्षा में रहकर संध्या के समय गुरुजी के घर पर आता और उनके सामने खड़ा हो नमस्कार करता। उपाध्याय ने देखा उपमन्यु खूब मोटा-ताजा हो रहा है, तब उन्होंने पूछा—‘बेटा उपमन्यु! तुम कैसे जीविका चलाते हो, जिससे इतने अधिक हष्ट-पुष्ट हो रहे हो?’ उसने उपाध्याय से कहा—‘गुरुदेव! मैं भिक्षा से जीवन-निर्वाह करता हूँ। यह सुनकर उपाध्याय उपमन्यु से बोले—‘मुझे अर्पण किए बिना तुम्हें भिक्षा का अन्न अपने उपयोग में नहीं लाना चाहिए।’ उपमन्यु ने ‘बहुत अच्छा’ कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली। अब वह भिक्षा लाकर उपाध्याय को अर्पण करने लगा। उपाध्याय उपमन्यु से सारी भिक्षा ले लेते थे। उपमन्यु ‘तथास्तु’ कहकर पुनः पूर्ववत् गौओं की रक्षा करता रहा। वह दिन भर गौओं की रक्षा में रहता और (संध्या के समय) पुनः गुरु के घर पर आकर गुरु के सामने खड़ा हो नमस्कार करता था। उसी दशा में भी उपमन्यु को पहले की भांति हष्ट-पुष्ट देखकर उपाध्याय ने पूछा—‘बेटा उपमन्यु! तुम्हारी सारी भिक्षा तो मैं ले लेता हूँ, फिर तुम इस समय कैसे जीवन निर्वाह करते हो?’ उपाध्याय के ऐसा कहने पर उपमन्यु ने उन्हें उत्तर दिया—‘भगवन्! पहले की लायी हुई भिक्षा आपको अर्पित करके अपने लिए दूसरी भिक्षा लाता हूँ और उसी से अपनी जीविका चलाता हूँ। यह सुनकर उपाध्याय ने कहा—‘यह न्याययुक्त एवं श्रेष्ठ वृत्ति नहीं है। तुम ऐसा करके दूसरे भिक्षाजीवी लोगों की जीविका में बाधा डालते हो, अतः लोभी हो (तुम्हें दुबारा भिक्षा नहीं लानी चाहिए) उसने ‘तथास्तु’ कहकर गुरु की आज्ञा मान ली और पूर्ववत्

गौओं की रक्षा करने लगा। एक दिन गायेँ चराकर वह फिर (सायंकाल को) उपाध्याय के घर आया और उनके सामने खड़े होकर उसने नमस्कार किया। उपाध्याय ने उसे फिर भी मोटा-ताजा ही देखकर पूछा—‘बेटा उपमन्यु ! मैं तुम्हारी सारी भिक्षा ले लेता हूँ और अब तुम दुबारा भिक्षा नहीं मांगते, फिर भी बहुत मोटे हो। आजकल कैसे खाना-पीना चलाते हो। इस प्रकार पूछने पर उपमन्यु ने उपाध्याय को उत्तर दिया—‘भगवन् ! मैं इन गौओं के दूध से जीवन निर्वाह करता हूँ।’ (यह सुनकर) उपाध्याय ने उससे कहा—‘मैंने तुम्हें दूध पीने की आज्ञा नहीं दी है, अतः इन गौओं के दूध का उपयोग करना तुम्हारे लिए अनुचित है। उपमन्यु ने ‘बहुत अच्छा’ कहकर दूध न पीने की भी प्रतिज्ञा कर ली और पूर्ववत् गोपालन करता रहा। एक दिन गोचारण के पश्चात् वह पुनः उपाध्याय के घर आया और उनके सामने खड़े होकर उसने नमस्कार किया। उपाध्याय ने अब भी उसे हष्ट-पुष्ट ही देखकर पूछा—‘बेटा उपमन्यु तुम भिक्षा का अन्न नहीं खाते, दुबारे भिक्षा भी नहीं मांगते और गौओं का दूध भी नहीं पीते, फिर भी बहुत मोटे हो। इस समय कैसे निर्वाह करते हो ?

इस प्रकार पूछने पर उसने उपाध्याय को उत्तर दिया—‘भगवन् ! ये बछड़े अपनी माताओं के स्तनों का दूध पीते समय जो फेन उगल देते हैं, उसी को पी लेता हूँ। यह सुनकर उपाध्याय ने कहा—‘ये बछड़े उत्तम गुणों से युक्त हैं। अतः तुम पर दया करके बहुत सारा फेन उगल देते होंगे। इसलिए तुम फेन पीकर तो इन सभी बछड़ों की जीविका में बाधा उपस्थित करते हो, अतः आज से फेन भी न पिया करो। उपमन्यु ने ‘बहुत अच्छा’ कहकर उसे न पीने की प्रतिज्ञा कर ली। और गौओं की रक्षा करने लगा। इस प्रकार मना करने पर उपमन्यु ने तो भिक्षा का अन्न खाता, न दुबारा भिक्षा लेता, न गौओं का दूध पीता और न बछड़ों के फेन को ही उपयोग में लाता था। (अब वह भूखा रहने लगा) एक दिन वन में भूख से पीड़ित होकर उसने आक के पत्ते चबा लिए। आक के पत्ते खारे, तीखे, के साथ कड़वे और रूखे होते हैं। उनका परिणाम तीक्ष्ण होता है अतः उनको खाने से उपमन्यु की आंख की ज्योति नष्ट हो गयी। वह अन्धा हो गया, अन्धे होने पर भी वह इधर-उधर घूमता रहा। अतः कुएं में गिर पड़ा। तदनन्तर जब सूर्यदेव अस्ताचल की चोटी पर पहुंच गये। तब भी उपमन्यु गुरु के घर नहीं आया तो उपाध्याय ने शिष्यों से पूछा—‘उपमन्यु क्यों नहीं आया ?’ वे बोले—‘वह तो गाय चराने के लिए वन में गया था।’ तब उपाध्याय ने कहा—‘मैंने उपमन्यु की जीविका के सभी मार्ग बन्द कर दिये हैं, अतः निश्चय ही वह रूठ गया है। इसीलिए इतनी देर हो जाने पर भी वह नहीं आया। अतः हमें चलकर उसे खोजना चाहिए। ऐसा कहकर शिष्यों के साथ वन में जाकर उपाध्याय ने उसे बुलाने के लिए

आवाज दी। ‘ओ उपमन्यु ! कहां हो बेटा, चले आओ।’ उसने उपाध्याय की आवाज सुनकर उच्च स्वर से उत्तर दिया—‘गुरुजी मैं कुएं में गिर पड़ा हूँ।’ तब उपाध्याय ने पूछा—‘वत्स ! तुम कुएं में कैसे गिर गए ?’ उसने उपाध्याय को उत्तर दिया—‘भगवन् ! मैं आक के पत्ते खाकर अन्धा हो गया हूँ, इसलिए कुएं में गिर गया।’ तब उपाध्याय ने कहा—‘वत्स ! दोनों अश्विनी कुमार देवता के वैद्य हैं। तुम उन्हीं की स्तुति करो। वे तुम्हारी आंखें ठीक कर देंगे।’ उपाध्याय के ऐसा कहने पर उपमन्यु ने अश्विनी कुमार नामक दोनों देवताओं की ऋग्वेद के मन्त्रों के द्वारा स्तुति प्रारम्भ की। हे अश्विनी कुमारों ! आप दोनों सृष्टि से पहले विद्यमान थे। आप ही पूर्वज हैं। आप ही चित्रभानु हैं। मैं वाणी और तप के द्वारा आपकी स्तुति करता हूँ क्योंकि आप अनन्त हैं। दिव्यस्वरूप हैं। सुन्दर पंखवाले दो पक्षी की भांति सदा साथ रहने वाले हैं। रजोगुणशून्य तथा अभिमान से रहित हैं। सम्पूर्ण विश्व में आरोग्य का विस्तार करते हैं। इस प्रकार उपमन्यु के स्तवन करने पर दोनों अश्विनी कुमार वहां आए और बोले—‘उपमन्यु हम तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हैं। यह तुम्हारे खाने के लिए पूआ लाये हैं, इसे खा लो’। उनके ऐसा कहने पर उपमन्यु बोला—‘भगवन् आपने ठीक कहा है, तथापि मैं गुरुजी को निवेदन किए बिना इस पूए को उपयोग में नहीं ला सकता’। तब दोनों अश्विनी कुमार बोले—‘वत्स ! पहले तुम्हारे उपाध्याय ने भी हमारी इसी प्रकार स्तुति की थी। उस समय हमने उन्हें जो पूआ दिया था। उन्होंने अपने गुरुजी को निवेदन किए बिना ही काम में ले लिया था। तुम्हारे उपाध्याय ने जैसा करा है वैसा ही तुम भी करो।’ उनके ऐसा कहने पर उपमन्यु ने उत्तर दिया—‘इसके लिए तो आप दोनों अश्विनी कुमारों की मैं बड़ी अनुनय-विनय करता हूँ। गुरुजी के निवेदन किए बिना मैं इस पूए को नहीं खा सकता हूँ। तब अश्विनी कुमार उससे बोले, “तुम्हारी इस गुरुभक्ति से हम बड़े प्रसन्न हैं। तुम्हारे उपाध्याय के दांत काले लोहे के समान हैं। तुम्हारे दांत सुवर्णमय हो जाएंगे। तुम्हारी आंखें भी ठीक हो जाएंगी और तुम कल्याण के भागी भी होओगे।’ अश्विनी कुमारों के ऐसा कहने पर उपमन्यु को आंखें मिल गयीं और उसने उपाध्याय के समीप आकर उन्हें प्रणाम किया। तथा सब बातें गुरुजी को कह सुनायीं। उपाध्याय उसके ऊपर बड़े प्रसन्न हुए। और उससे बोले—‘जैसा अश्विनी कुमारों ने कहा है, उसी प्रकार तुम कल्याण के भागी होओगे। तुम्हारी बुद्धि में सम्पूर्ण वेद और सभी धर्म-शास्त्र स्वतः स्फुरित हो जाएंगे।’ इस प्रकार यह उपमन्यु की परीक्षा बतायी गयी।

## 21. गुरु का आज्ञाकारी शिष्य—३

आयोदधौम्य के तीसरे शिष्य थे वेद । उन्हें उपाध्याय ने आज्ञा दी, 'वत्स वेद ! तुम कुछ काल तक यहां मेरे घर में निवास करो । सदा सुशुश्रूषा में लगे रहना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा । वेद 'बहुत अच्छा' कहकर गुरु के घर में रहने लगा । उन्होंने दीर्घकाल तक गुरु की सेवा की । गुरुजी उन्हें बैल की तरह सदा भारी बोझ उठाने में लगाए रखते थे । वेद सरदी-गरमी, भूख-प्यास का कष्ट सहन करते हुए सभी अवस्थाओं में गुरु के अनुकूल ही रहते थे । इस प्रकार जब बहुत समय बीत गया । गुरुजी पूर्णतः उन पर संतुष्ट हुए । गुरु के संतोष से वेद ने श्रेय तथा सर्वज्ञता प्राप्त कर ली । इस प्रकार यह वेद की परीक्षा का वृत्तान्त कहा गया ।

## 22. गुरु का आज्ञाकारी शिष्य—४

उपाध्याय की आज्ञा होने पर वेद समावतन संस्कार के पश्चात् स्नातक होकर गुरु गृह से लौटे । घर आकर उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया । अपने घर में निवास करते समय आचार्य वेद के पास तीन शिष्य रहते थे । वे 'काम करो या गुरु सेवा में लगे रहो' इत्यादि रूप से किसी प्रकार का आदेश अपने शिष्यों को नहीं देते थे । क्योंकि गुरु के घर पर रहने पर छात्रों को जो कष्ट सहन करना पड़ता है, उससे वे परिचित थे ।

इसलिए उनके मन में अपने शिष्यों को क्लेशदायक कार्य में लगाने की कभी इच्छा नहीं होती थी ।

एक समय की बात है—ब्रह्मवेत्ता आचार्य वेद के पास आकर जनमेजय और पौण्ड्र्य नाम वाले दो क्षत्रियों ने उनका वरण किया और उन्हें अपना उपाध्याय बना लिया । तदनन्तर एक दिन उपाध्याय वेद ने यजमान के कार्य से बाहर जाने के लिए उद्यत हो, उत्तङ्क नाम वाले शिष्य को अग्निहोत्र आदि के कार्य में नियुक्त किया और कहा—'वत्स उत्तङ्क ! मेरे घर में मेरे बिना जिस किसी वस्तु की कमी हो जाए । उसकी पूर्ति तुम कर देना, ऐसी मेरी इच्छा है । उत्तङ्क को ऐसा आदेश देकर आचार्य वेद बाहर चले गये ।

उत्तङ्क गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए सेवापरायण हो गुरु के घर में रहने लगा । वहां रहते समय उन्हें उपाध्याय के आश्रय में रहने वाली सब स्त्रियों ने मिलकर

बुलाया और कहा । तुम्हारी गुरुपत्नी रजस्वला हुई है और उपाध्याय परदेश गए हैं । उनका यह ऋतुकाल जिस प्रकार निष्फल न हो, वैसा करो, इसके लिए गुरुपत्नी बड़ी चिन्ता में पड़ी हैं । यह सुनकर उत्तङ्क ने उत्तर दिया—'मैं स्त्रियों के कहने से यह न करने योग्य निन्द्य कर्म नहीं कर सकता । उपाध्याय ने मुझे ऐसी आज्ञा नहीं दी है कि 'तुम न करने योग्य कार्य भी कर डालना ।' इसके बाद कुछ काल बीतने पर उपाध्याय वेद परदेश से अपने घर लौट आए । आने पर उन्हें उत्तङ्क का सारा वृत्तान्त मालूम हुआ, इससे वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'बेटा उत्तङ्क ! तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? तुमने धर्मपूर्वक मेरी सेवा की है । इससे हम दोनों की एक-दूसरे के प्रति प्रीति बहुत बढ़ गई है । अब मैं तुम्हें घर लौटने की आज्ञा देता हूँ— जाओ, तुम्हारी सभी कामनाएं पूर्ण होंगी । गुरु के ऐसा कहने पर उत्तङ्क बोले—'भगवन् ! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? वृद्ध पुरुष कहते भी हैं, जो अधर्मपूर्वक अध्यापन या उपदेश करता है अथवा जो अधर्मपूर्वक अध्ययन करता है, उन दोनों में से एक मृत्यु एवं विद्वेष को प्राप्त होता है । अतः आपकी आज्ञा मिलने पर मैं अभिष्ट गुरुदक्षिणा भेंट करना चाहता हूँ । उत्तङ्क के ऐसा कहने पर उपाध्याय बोले—'बेटा उत्तङ्क ! तब कुछ दिन और यहीं ठहरो' तदनन्तर किसी दिन उत्तङ्क ने फिर उपाध्याय से कहा—'भगवन् ! आज्ञा दीजिए, मैं आपको कौन-सी प्रिय वस्तु गुरुदक्षिणा के रूप में भेंट करूँ । यह सुनकर उपाध्याय ने उनसे कहा—'वत्स उत्तङ्क ! तुम बार-बार मुझसे कहते हो कि मैं क्या गुरुदक्षिणा भेंट करूँ ? अतः जाओ घर के भीतर प्रवेश करके अपनी गुरुपत्नी से पूछ लो कि 'मैं क्या गुरुदक्षिणा भेंट करूँ ?' वे जो बतावें वही वस्तु उन्हें भेंट करो । उपाध्याय के ऐसा कहने पर उत्तङ्क ने गुरुपत्नी से पूछा—'देवी ! उपाध्याय ने मुझे घर जाने की आज्ञा दी है, अतः मैं आपको कोई अभिष्ट वस्तु गुरुदक्षिणा के रूप में भेंट करके गुरु के ऋण से उरुण होकर जाना चाहता हूँ । आप आज्ञा दें, मैं गुरुदक्षिणा के रूप में कौन-सी वस्तु ला दूँ । उत्तङ्क के ऐसा कहने पर गुरुपत्नी उनसे बोली—'वत्स ! तुम राजा पौण्ड्र्य के यहां, उनकी क्षत्राणी पत्नी ने जो दोनों कुण्डल पहन रखे हैं, उन्हें मांग लाने के लिए जाओ ।' और उन कुण्डलों को शीघ्र ले आओ । आज के चौथे दिन पुण्यकव्रत होने वाला है, मैं उस दिन कानों में उन कुण्डलों को पहनकर सुशोभित हो ब्राह्मणों को भोजन परोसना चाहती हूँ, अतः तुम मेरा यह मनोरथ पूर्ण करो । तुम्हारा कल्याण होगा । अन्यथा कल्याण की प्राप्ति कैसे संभव है ? गुरुपत्नी के ऐसा कहने पर उत्तङ्क वहां से चल दिए । मार्ग में जाते समय उन्होंने एक बहुत बड़े बैल को और उस पर चढ़े हुए एक विशालकाय पुरुष को भी देखा । उस पुरुष ने उत्तङ्क से कहा—'उत्तङ्क ! तुम इस बैल का गोबर खा लो ।' किन्तु उसके ऐसा कहने पर भी

उत्तङ्क को वह गोबर खाने की इच्छा नहीं हुई। तब वह पुरुष फिर उनसे बोला—‘उत्तङ्क खा लो, विचार न करो। तुम्हारे उपाध्याय ने भी पहले इसे खाया था।’ उसके पुनः ऐसा कहने पर उत्तङ्क ने ‘बहुत अच्छा’ कहकर उसकी बात मान ली और उस बैल के गोबर तथा मूत्र को खा-पीकर उतावली के कारण खा-पीकर खड़े-खड़े ही आचमन किया। फिर वे चल दिए। जहां वे क्षत्रिय राजा पौष्य रहते थे, वहां पहुंचकर उत्तङ्क ने देखा - वे आसन पर बैठे हुए हैं, तब उत्तङ्क ने उनके समीप जाकर आशीर्वाद से उन्हें प्रसन्न करते हुए कहा—‘राजन् ! मैं याचक होकर आपके पास आया हूँ। राजा ने उन्हें परिणाम करके कहा—‘भगवान ! मैं आपका सेवक पौष्य हूँ कहिये, किस आज्ञा का पालन करूँ। उत्तङ्क ने पौष्य से कहा राजन् ! मैं गुरुदक्षिणा के निमित्त दो कुण्डलों के लिए आपके यहां आया हूँ। आपकी क्षत्राणी ने जिन्हें पहन रखा है, उन्हीं दोनों कुण्डलों को आप मुझे दे दें। यह आपके योग्य कार्य है। यह सुनकर पौष्य ने उत्तङ्क से कहा—‘ब्रह्मन् ! आप अन्तःपुर में जाकर क्षत्राणी से वे कुण्डल मांग लें। राजा के ऐसा कहने पर उत्तङ्क ने अन्तःपुर में प्रवेश किया, किन्तु उन्हें वहां क्षत्राणी नहीं दिखाई दी। तब वे पुनः राजा पौष्य के पास आकर बोले—‘राजन् ! आप मुझे सन्तुष्ट करने के लिए झूठी बात कहकर मेरे साथ छल करें। यह आपको शोभा नहीं देता है। आपके अन्तःपुर में क्षत्राणी नहीं है, क्योंकि वहां वे मुझे नहीं दिखायी देती हैं। उत्तङ्क के ऐसा कहने पर पौष्य ने एक क्षण तक विचार करके उन्हें उत्तर दिया—‘निश्चय ही आप झूठे मुंह हैं, स्मरण तो कीजिए, क्योंकि मेरी क्षत्राणी पतिव्रता होने के कारण उच्छिष्ट-अपवित्र मनुष्य के द्वारा नहीं देखी जा सकती है। आप उच्छिष्ट होने के कारण अपवित्र हैं, इसलिए वे आपकी दृष्टि में नहीं आ रही हैं, उनके ऐसा कहने पर उत्तङ्क ने स्मरण करके कहा—‘हां, अवश्य ही मुझ में अशुद्धि रह गई है। यहां की यात्रा करते समय मैंने खड़े होकर चलते-चलते आचमन किया है’ तब पौष्य ने उनसे कहा—‘ब्रह्मन् ! यही आपके द्वारा विधि का उल्लंघन हुआ है। खड़े होकर और शीघ्रतापूर्वक चलते-चलते किया हुआ आचमन नहीं के बराबर है। तत्पश्चात् उत्तङ्क राजा से ‘ठीक है’ ऐसा कहकर हाथ, पैर और मुंह भली-भांति धोकर पूर्वाभिमुख हो आसन पर बैठे और हृदय तक पहुंचने योग्य शब्द तथा फेन से रहित शीतल जल के द्वारा तीन बार आचमन करके उन्होंने दो बार अंगूठे के मूल भाग से मुख पोंछा और नेत्र, नासिका आदि इन्द्रिय-गोल-कों का जल सहित अंगुलियों द्वारा स्पर्श करके अन्तःपुर में प्रवेश किया। तब उन्हें क्षत्राणी का दर्शन हुआ। महारानी उत्तङ्क को देखते ही उठकर खड़ी हो गई और प्रणाम करके बोली—‘भगवन् ! आपका स्वागत है, आज्ञा दीजिए मैं क्या सेवा करूँ ? उत्तङ्क ने महारानी से कहा-‘देवी ! मैंने गुरु के लिए

आपके दोनों कुण्डलों की याचना की है। वे ही मुझे दे दें।’ महारानी उत्तङ्क के उस सद्भाव से बहुत प्रसन्न हुई। उन्होंने यह सोचकर कि ‘ये सुपात्र ब्राह्मण हैं, इन्हें निराश नहीं लौटाना चाहिए। अपने दोनों कुण्डल स्वयं उतारकर उन्हें दे दिए और उनसे कहा—‘ब्रह्मन् ! नागराज तक्षक इन कुण्डलों को पाने के लिए बहुत प्रयत्नशील हैं। अतः आपको सावधान होकर इन्हें ले जाना चाहिये। रानी के ऐसा कहने पर उत्तङ्क ने उन क्षत्राणी से कहा—‘देवी ! आप निश्चित रहें। नागराज तक्षक मुझसे भिड़ने का साहस नहीं कर सकता। महारानी से ऐसा कहकर उनसे आज्ञा ले उत्तङ्क राजा पौष्य के निकट आए और बोले—‘महाराज पौष्य ! मैं बहुत प्रसन्न हूँ, यह सुनकर पौष्य ने उत्तङ्क से कहा—‘भगवन् ! बहुत दिनों पर कोई सुपात्र ब्राह्मण मिलता है। आप गुणवान अतिथि पधारे हैं, अतः मैं श्राद्ध करना चाहता हूँ। आप इसमें समय दीजिए। तब उत्तङ्क ने राजा से कहा—‘मेरा समय तो दिया ही हुआ है, किन्तु शीघ्रता चाहता हूँ। आपके यहां जो शुद्ध एवं सुसंस्कृत भोजन तैयार हो उसे मंगाइये।

राजा ने ‘बहुत अच्छा’ कहकर जो भोजन सामग्री प्रस्तुत थी, उसके द्वारा उन्हें भोजन कराया। परन्तु जब भोजन सामने आया, तब उत्तङ्क ने देखा, उसमें बाल पड़ा है और वह ठण्डा हो चुका है। फिर तो ‘यह अपवित्र अन्न है’ ऐसा निश्चय करके वे राजा पौष्य से बोले-‘आप मुझे अपवित्र अन्न दे रहे हैं, अतः अन्धे हो जाएंगे। तब पौष्य ने भी उन्हें शाप के बदले शाप देते हुए कहा—‘आप शुद्ध को भी दूषित बता रहे हैं, अतः आप भी संतानहीन हो जाएंगे। तब उत्तङ्क राजा पौष्य से बोले—‘महाराज ! अपवित्र अन्न देकर फिर बदले में शाप देना आपके लिए कदापि उचित नहीं है। अतः पहले अन्न को ही प्रत्यक्ष देख लीजिए।’ तब पौष्य ने उस अन्न को अपवित्र देखकर उसकी अपवित्रता के कारण का पता लगाया। वह भोजन खुले केश वाली स्त्री ने तैयार किया था। अतः उसमें केश पड़ गया था। देर का बना होने से वह ठण्डा भी हो गया था। इसलिए वह अपवित्र है, इस निश्चय पर पहुंचकर राजा ने उत्तङ्क ऋषि को प्रसन्न करते हुए कहा—‘भगवन् ! यह केशयुक्त और शीतल अन्न अनजाने में आपके पास लाया गया है। अतः इस अपराध के लिए मैं आपसे क्षमा मांगता हूँ। आप ऐसी कृपा कीजिये, जिससे मैं अन्धा न होऊँ।’ तब उत्तङ्क ने राजा से कहा—‘राजन् ! मैं झूठ नहीं बोलता। आप पहले अन्धे होकर रहिए, फिर थोड़े ही दिनों में इस दोष से रहित हो जाएंगे। अब आप भी ऐसी चेष्टा करें, जिससे आपका दिया हुआ शाप मुझ पर लागू न हो।’ यह सुनकर पौष्य ने उत्तङ्क से कहा—‘मैं शाप को लौटाने में असमर्थ हूँ, मेरा क्रोध अभी तक शान्त नहीं हो रहा है। क्या आप यह नहीं जानते कि ब्राह्मण का हृदय मक्खन के समान मुलायम और जल्दी पिघलने वाला होता है। केवल उसकी

वाणी में ही तीखी धार वाले छुरे का सा प्रभाव होता है। किन्तु ये दोनों ही बातें क्षत्रिय के लिए विपरीत हैं। उसकी वाणी तो नवनीत के समान कोमल होती है, लेकिन हृदय पैनी धार वाले छुरे के समान तीखा होता है। अतः ऐसी दशा में कठोर हृदय होने के कारण मैं उस शाप को बदलने में असमर्थ हूँ। इसलिए आप जाइये, तब उत्तङ्क बोले—‘राजन् ! आपने अन्न की अपवित्रता देखकर मुझसे क्षमा के लिए अनुनय-विनय की है, किन्तु पहले आपने कहा था कि ‘तुम शुद्ध अन्न को दूषित बता रहे हो, इसलिए संतानहीन हो जाओगे। इसके बाद अन्न का दोषयुक्त होना प्रमाणित हो गया, अतः आपका यह शाप मुझ पर लागू नहीं होता।’

अब हम अपना कार्य-साधन कर रहे हैं। ऐसा कहकर उत्तङ्क दोनों कुण्डलों को लेकर वहां से चल दिए। मार्ग में उन्होंने अपने पीछे आते हुए एक नग्न क्षपणक को देखा जो बार-बार दिखायी देता और छिप जाता था। कुछ दूर जाने के बाद उत्तङ्क ने उन कुण्डलों को एक जलाशय के किनारे भूमि पर रख दिया और स्वयं जल सम्बन्धी कृत्य (शौच, स्नान, आचमन, संध्या तर्पण आदि) करने लगे। इतने ही में वह क्षपणक बड़ी उतावली के साथ वहाँ आया और दोनों कुण्डलों को लेकर चंपत हो गया। उत्तङ्क ने स्नान-तर्पण आदि जल सम्बन्धी कार्य पूर्ण करके शुद्ध एवं पवित्र होकर देवताओं तथा गुरुओं को नमस्कार किया और जल से बाहर निकलकर बड़े वेग से उस क्षपणक का पीछा किया। वास्तव में वह नागराज तक्षक ही था। दौड़ने से उत्तङ्क के अत्यन्त समीपवर्ती हो गया। उत्तङ्क ने उसे पकड़ लिया। पकड़ में आते ही उसने क्षपणक का रूप त्याग दिया और तक्षक नाग का रूप धारण करके वह सहसा प्रकट हुए पृथ्वी के एक बहुत बड़े विवर में घुस गया। बिल में प्रवेश करके वह नागलोक में अपने घर चला गया। तदनन्तर उस क्षत्राणी की बात का स्मरण करके उत्तङ्क ने नागलोक तक उस तक्षक का पीछा किया। पहले तो उन्होंने उस विवर को अपने डंडे की लकड़ी से खोदना आरम्भ किया, किन्तु इसमें उन्हें सफलता न मिली। उस समय इन्द्र ने उन्हें क्लेश उठाते देखा तो उनकी सहायता के लिए अपना वज्र भेज दिया। उन्होंने वज्र से कहा—‘जाओ, इस ब्राह्मण की सहायता करो’। तब वज्र ने डंडे की लकड़ी में प्रवेश करके उस बिल को विदीर्ण पर दिया (इससे पाताल-लोक में जाने के लिए मार्ग बन गया) तब उत्तङ्क उस बिल में घुसकर उसी मार्ग से भीतर प्रवेश कर उन्होंने नागलोक का दर्शन किया। जिसकी कहीं सीमा नहीं थी। जो अनेक प्रकार के मंदिरों, महलों, झुके हुए छज्जों-वाले ऊंचे-ऊंचे मण्डपों तथा सैकड़ों दरवाजों से सुशोभित और छोटे-बड़े अद्भुत क्रीड़ा स्थानों में व्याप्त था। वहां उन्होंने इन श्लोकों द्वारा उन नागों का स्तवन किया—ऐरावत जिनके राजा हैं, जो समराज्जण विशेष शोभा पाते हैं,

बिजली और वायु से प्रेरित हो जल की वर्षा करने वाले बादलों की भांति वाणों की धारावाहिक वृष्टि करते हैं, उन सर्पों की जय हो। इस प्रकार उन श्रेष्ठ नागों की स्तुति करने पर भी जब ब्रह्मर्षि उत्तङ्क उन कुण्डलों को न पा सके तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। इस प्रकार नागों की स्तुति करते रहने पर भी जब वे उन दोनों कुण्डलों को प्राप्त न कर सके, तब उन्हें वहां दो स्त्रियां दिखाई दीं, जो सुन्दर कर्घे पर रखकर सूत के ताने में वस्त्र बुन रही थीं, उस ताने में उत्तङ्क मुनि ने काले और सफेद दो प्रकार के सूत और बारह अरोंका एक चक्र भी देखा, जिसे छः कुमार घुमा रहे थे। वहाँ एक श्रेष्ठ पुरुष भी दिखाई दिये। जिनके साथ एक दर्शनीय अश्व भी था। उत्तङ्क ने इन मन्त्र तुल्य श्लोकों द्वारा उनकी स्तुति की। यह जो अविनाशी कालचक्र निरन्तर चल रहा है। इसके भीतर तीन सौ साठ अरे हैं, चौबीस पर्व हैं और इस चक्र को छः कुमार घुमा रहे हैं। तब वह पुरुष उत्तङ्क से बोला—‘ब्राह्मन् ! मैं तुम्हारे इस स्रोत्र से बहुत प्रसन्न हूँ। कहो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? यह सुनकर उत्तङ्क ने कहा—‘सब नाग मेरे अधीन हो जायें, उनके ऐसा कहने पर वह पुरुष पुनः उत्तङ्क से बोला—‘इस घोड़े की गुदा में फूंक मारो। यह सुनकर उत्तङ्क ने घोड़े की गुदा में फूंक मारी। फूंकने से घोड़े के शरीर के समस्त छिद्रों से धुएँ सहित आग की लपटे निकलने लगीं। उस समय सारा नाग लोक धुएँ से भर गया। फिर तो तक्षक घबरा गया। और आग की ज्वाला के भय से दुःखी हो दोनों कुण्डल लिए सहसा घर से निकल आए। और उत्तङ्क से बोला—‘ब्राह्मन् आप ये दोनों कुण्डल ग्रहण कीजिए। उत्तङ्क ने उन कुण्डलों को ले लिया। कुण्डल लेकर वे सोचने लगे। ‘अहो ! आज ही गुरुपत्नी का वह पुण्यकव्रत है और मैं बहुत दूर चला आया हूँ। ऐसी दशा में किस प्रकार इन कुण्डलों द्वारा उनका सत्कार कर सकूंगा।’ तब इस प्रकार चिन्ता में पड़े हुए उत्तङ्क ने उस पुरुष से कहा—‘उत्तङ्क से पुरुष ने कहा ‘तुम इसी घोड़े पर चढ़ जाओ, यह तुम्हें क्षण भर में उपाध्याय के घर पहुँचा देगा।’ ‘बहुत अच्छा’ कहकर उत्तङ्क घोड़े पर चढ़ा और तुरन्त उपाध्याय के घर आ पहुँचा। इधर गुरुपत्नी स्नान करके बैठी हुई अपने केश संवार रही थी। उत्तङ्क अब तक नहीं आया यह सोचकर उन्होंने शिष्य को शाप देने का विचार कर लिया। इसी बीच उत्तङ्क ने उपाध्याय के घर में प्रवेश करके गुरुपत्नी को प्रणाम किया और उन्हें कुण्डल दिए, तब गुरुपत्नी ने उत्तङ्क से कहा—‘उत्तङ्क तू ठीक समय पर उचित स्थान पर आ पहुँचा। वत्स ! तेरा स्वागत है। अच्छा हुआ जो तुझे बिना अपराध के शाप नहीं दिया। तेरा कल्याण उपस्थित है, तुझे सिद्धि प्राप्त हो, तदनन्तर उत्तङ्क ने उपाध्याय के चरणों में प्रणाम किया। उपाध्याय ने उनसे कहा—‘वत्स उत्तङ्क ! तुम्हारा स्वागत है, लौटने में देर क्यों लगाई। तब उत्तङ्क ने उपाध्याय को उत्तर दिया—‘भगवन् !

नागराज तक्षक ने इस कार्य में विघ्न डाल दिया था। इसलिए मैं नागलोकों में चला गया था।

(पृष्ठ 53 श्री महाभारते आदिपर्वणि, तृतीय अध्याय)

### 23. 'राजा का प्रजा को उपदेश'

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व ने उसकी पटरानी की कोख से जन्म ग्रहण किया। उसका नाम जनसंधकुमार रखा गया। उसके बड़े होने पर और तक्षशिला से सब विद्यायें सीखकर लौटने पर राजा ने सभी बन्धियों को मुक्त कर दिया और उसे उपराजा बना दिया। आगे चलकर पिता के मरने पर जब वह राजा हुआ तो उसने चारों नगर-द्वारों पर नगर के बीच में और राजद्वार पर छः दान-शालायें स्थापित कराई और प्रतिदिन छः लाख का दान कर सारे जम्बुद्वीप को गुँजाते हुए महादान देना आरम्भ किया। उसने बन्धनागारों को एकदम खुलवा दिया और पशुवध-स्थल नष्ट करवा दिये। उसने चारों संग्रह-वस्तुओं द्वारा लोगों से व्यवहार करते हुए, पाँच शीलों का पालन और उपोसध-व्रत रखते हुए धर्मानुसार राज्य किया। बीच-बीच में राष्ट्र के निवासियों को इकट्ठा कर उन्हें उपदेश दे जनता को चरित्रवान बनाता—“दान दो, सदाचारी बनो, धर्मानुसार अपने काम-काज और व्यापार चलाओ, बचपन में ही विद्या सीखो, धनार्जन करो, झूठी साक्षी आदि देने के कर्म न करो, कुत्ते न बनो, प्रचण्ड तथा कठोर मत होओ, माता-पिता की सेवा करो तथा ज्येष्ठों का आदर करो।” एक दिन उसने पूर्णिमा-उपोसध के दिन उपोसध-व्रत ग्रहण कर जनता के अधिकाधिक कल्याण और उसे अप्रमादी बनाने के लिए धर्मोपदेश देने की इच्छा से मुनादी कराई और अपने रनिवास से प्रारम्भ करके सभी नागरिकों को एकत्र कराया। उसने राजाङ्गन में अलंकृत रत्ननिर्मित मण्डप के नीचे बिछे श्रेष्ठ आसन पर बैठ धर्मोपदेश दिया - “हे नगरवासियों ! मैं तुम्हें तपाने वाले और न तपाने वाले धर्मों का उपदेश करता हूँ। अप्रमादी होकर, कान दे, ध्यान से सुनो।”

राजा जनसन्ध ने कहा कि ये दस उक्त बातें हैं, जिन्हें पहले न करके आदमी पीछे पछताता है। पहले संग्रह न करने से न मिलने पर, चित्त को अनुताप होता है। बाद में वह पश्चाताप करता है कि हाय ! मैंने पहले धन-संग्रह नहीं किया। मैंने पहले सामर्थ्य रहते कोई शिल्प नहीं सीखा। शिल्प-रहित का जीविका चलाना कठिन होता है सोच बाद में वह पश्चाताप करता है।

कूटवेदी पुरे आसिं पिसुणो पिट्टिमंसिको,

चण्डो फरुसो चासिं इति पच्छानुतप्पति । (4) ।

मैं तराजू की डण्डी मारने आदि कर्म करने वाला था, चुगलखेर था, प्रचण्ड था और कठोर था-यह सोच बाद में वह पछताता है।

पाणातिपातो पुरे आसिं लुछो चासिं अनारियो,

भूतानं नावदायिस्सं इति पच्छानुतप्पति । (5) ।

मैं पहले प्राण-घात करने वाला था, दारुण-स्वभाव का था, अनार्य था। मैं प्राणियों पर दया नहीं करता था, सोच बाद में वह पछताता है।

वहूसु वत सन्तासु अनापादासु इत्थिसु,

परदार असेविस्सं इति पच्छानुतप्पति । (6) ।

दूसरों द्वारा अपरिगृहीत बहुत-सी स्त्रियों के रहते हुए भी मैंने पराई स्त्रियों को भोगा—यह सोच वह बाद में पछताता है।

बहुम्हि वत सन्तम्हि, अन्नपाने उपट्टिते,

न पुब्बे अददं दानं, इति पच्छानुतप्पति । (7) ।

बहुत से अन्न-पान के उपस्थित रहने पर भी मैंने पहले दान नहीं दिया-यह सोच वह बाद में पछताता है।

मातरं पितरञ्चापि जिण्णके गतयोब्बने,

पहु सन्तो न पोसिस्सं इति पच्छानुतप्पति । (8) ।

वृद्ध, गत-यौवन, माता-पिता का मैंने बहुत धन होते हुए भी पोषण नहीं किया—यह सोच बाद में वह पछताता है।

आचरियं अनुसत्थारं सब्बकामरसाहरं,

पितरं अच्चमज्जिस्सं इति पच्छानुतप्पति । (9) ।

मैंने अपने अनुशासक, सब इच्छाओं की पूर्ति करने वाले, आचार्य्य पिता की अवज्ञा की—यह सोच बाद में पछताता है।

समणे ब्राह्मणे चापि सीलवन्ते बहुस्सुते,

न पुब्बे पयिरुपासिस्सं इति पच्छानुतप्पति । (10) ।

मैंने पहले सदाचारी, बहुश्रुत श्रमण-ब्राह्मणों की उपासना नहीं की—यह सोच बाद में पछताता है।

साधु होति तपो चिण्णो सन्तो च पथिरुपासति,  
न च पुब्बे तपो चिण्णो इति पच्छानुत्पत्ति । (11) ।

तपस्या और शान्त पुरुषों की सेवा कल्याणकर होती है- मैंने पहले तपस्या नहीं की—यह सोच बाद में पछताता है ।

यो च एतानि ठानानि योनिंसो पटिपज्जति,  
करं पुरिसकिच्चानि स पच्छा नानुत्पत्ति । (12) ।

जो इन बातों के अनुसार ठीक-ठीक आचरण करता है, वह पुरुष कृत्य करता है—यह सोच वह बाद में नहीं पछताता ।

इसी प्रकार आधे महीने तक जनता को उपदेश दिया । जनता भी उसके उपदेशानुसार चल, उन-उन बातों के अनुसार आचरण कर स्वर्गगामी हुई ।

(जातक - IV, पृष्ठ 375-378)

## 24. 'भय बिन धर्म पाले न अज्ञानी'

पूर्व समय में कश्यप सम्यक् सम्बुद्ध के समय उसीनर नाम का राजा राज्य करता था । काश्यप सम्यक् सम्बुद्ध के चारों-सत्यों के उपदेश से जनता को बन्धन से मुक्त कर निर्वाण-नगर में प्रविष्ट होने पर बहुत समय जाने के बाद बुद्धशासन का पतन हो गया-भिक्षु इक्कीस प्रकार के अनुचित उपायों से जीविकार्जन करने लगे, भिक्षुणियों से संसर्ग करने लगे तथा बेटा-बेटी का पालन करने लगे, भिक्षुओं ने भिक्षु-धर्म, भिक्षुणियों ने भिक्षुणी-धर्म, उपासकों ने उपासक-धर्म, उपासिकाओं ने उपासिका-धर्म तथा ब्राह्मणों ने ब्राह्मण-धर्म छोड़ दिया, अधिकांश मनुष्य दस अकुशल-कर्म करने लगे । जो मरे वे सभी नरक-गामी हुये । तब देवराज शक्र ने जब नये देवपुत्रों को नहीं देखा तब मनुष्य लोक की ओर देखकर जाना कि लोग नरक में पैदा हो रहे हैं । उसने शस्ता के शासन का पतन हुआ जानकर सोचा-क्या करूँ ? उसे एक उपाय सूझा-जनता को डराकर, त्रास देकर, यह मालूम होने पर कि वह डर गई है, उसे आश्वासन तथा धर्मोपदेश दे नीचे जाते बुद्धशासन को पकड़ ऐसा करूंगा कि अभी वह एक हजार वर्ष और चल सके । उसने यह निश्चय कर मातली-देवपुत्र को एक काले महान्-कृष्णवर्ण कुत्ते में परिवर्तित किया, जिसकी केले जितनी बड़ी-बड़ी चार दाढ़ें थीं, जिनमें से किरणें निकल रही थीं, जो इतना घोर भयानक था कि उसे देखने से ही गर्भिणी का गर्भपात हो जाय और था अच्छी नसल के (घोड़े) जितना बड़ा । उसने उसे पांच जगह से बाँध, लाल माला पहनाकर, रस्सी का सिरा स्वयं अपने हाथ में लिया ।

फिर दो काषाय वस्त्र पहन, बालों को पिछली ओर बाँध, लाल माला धारण कर, मूंगे के रंग की डोरी वाली चढ़ी हुई धनुष ले, वज्र की नोकवाले तीर को अंगुलियों पर घूमाता हुआ शिकारी के वेश में नगर से योजन भर की दूरी पर उतरा । उसने तीन बार आवाज दी —“संसार नष्ट होने जा रहा है, संसार नष्ट होने जा रहा है ।” आदमी भयभीत हुए । उसने नगर के पास पहुँच फिर आवाज लगाई । आदमी कुत्ते को देख भयभीत हुए और नगर में जा राजा को यह समाचार सुनाया । राजा ने जल्दी से नगर-द्वार बंद करवा दिये । शक्र कुत्ते सहित अठारह-हाथ ऊंची दीवार लाँघ कर नगर में जा पहुँचा । मनुष्य भय के मारे भाग कर घर में घुस गये और दरवाजे बंद कर लिए । महान् कृष्ण (कुत्ता) भी जिसे देखता उसका पीछा कर उसे डराता । इस प्रकार वह राजभवन जा पहुँचा । राजाङ्गण के आदमियों ने डर के मारे भाग कर राजभवन में जा द्वार बंद कर लिये । उसीनर राजा भी रनिवास को लेकर महल पर जा चढ़ा । महाकृष्ण अगले पैर उठा किवाड़ पर रख जोर से भौंका । उसके भौंकने की आवाज नीचे अवीची (नरक) तक और ऊपर भवाग्र तक पहुँची । सारा चक्रवाल एक शब्द हो गया । नगरवासी इतने डर गये कि एक आदमी भी शक्र के साथ बातचीत नहीं कर सका । किन्तु राजा ने ही स्थिरता से काम ले खिड़की खोल शक्र को सम्बोधित किया और पूछा —“हे शिकारी ! तेरा कुत्ता क्यों भौंका ?”

“भूखा होने के कारण ।”

“तो इसे भोजन दिलाता हूँ ।” कह राजा ने घर के लोगों के लिए और अपने लिए बना सब भोजन दिलवा दिया । उस सारे को कुत्ते ने एक ही कौर में समाप्त कर फिर आवाज लगाई । राजा ने फिर पूछा और जब उसने सुना “अभी मेरा कुत्ता भूखा ही है ।” तो हाथी आदि के लिये बना सारा भोजन मँगवा कर दिलवाया । उसे भी वह वैसे ही खा गया और फिर आवाज लगाई । राजा समझ गया-यह कुत्ता नहीं है । यह यक्ष है । इसके आने का कारण पूछूँगा । उसने डरते-डरते पूछते हुए कहा—“हे धीर ! यह तेरा कुत्ता, जो काला-काला है, भयानक है, श्वेत-दाँतों वाला है, प्रतापी है, पाँच जगह रस्सी से बाँधा है, क्या चाहता है ?”

यह सुन शक्र कहता है—“हे उसीनर ! यह जानवरों के लिये नहीं होगा । जब यह मनुष्यों की हानि करेगा तभी यह कृष्ण मुक्त होगा ।” तब राजा ने पूछा—“हे शिकारी ! यह तेरा कुत्ता क्या सभी मनुष्यों का माँस खायेगा अथवा तेरे शत्रुओं का ही ?”

“महाराज, शत्रुओं का ही ।”

“तेरे शत्रु कौन हैं ?”

“महाराज, जो अधर्म में रत हैं, अधर्मचारी हैं।”

“उन्हें हमें बतायें।”

तब देवराज शक्र कहता है—भिक्षा-पात्र धारी, (सिर) मुण्डे, संघाटिधारी श्रमणक जब हल लेकर खेती करेंगे, तब (उन्हें मारकर) मेरा यह कुत्ता मुक्त होगा। तपस्वी, सिर (मुण्डी) संघाटिधारी प्रव्रजिता जब गृहस्थी करने लगेंगी, तब लम्बी दाढ़ी वाले, जटाधारी, मलिन-दाँतों वाले, सिर में धूनी रमाने वाले जब ऋण देकर उसके (सूद) से जीविका चलायेंगे। तब ब्राह्मण वेद, सावित्री, और यज्ञ-तन्त्र को पढ़कर मजदूरी लेकर यज्ञ करायेंगे। जब बहुत (धन) होने पर भी गत-यौवन बूढ़े माता-पिता का पालन-पोषण नहीं करेंगे। जब लोक में आचार्य्य-भार्य्या, मित्र की भार्य्या, मामी और बुआ के पास जाने लगेंगे। जब ब्राह्मण ढाल-तलवार लेकर रास्ते पर डाके डालने लगेंगे। जब लोक में मायावी, ठग, अकल्याण-कामी लोग होंगे, तब उन्हें मारकर (मेरा) कृष्ण मुक्त होगा। यह कह “महाराज, ये मेरे शत्रु हैं।” कहा और ऐसा दिखाया मानो कुत्ता उछलकर शत्रु-कर्म करने वालों को खा जायेगा। फिर जनता के डर जाने पर कुत्ते को रस्सी से खींच कर बिठा दिया (दिखा) शिकारी वेश छोड़ अपने प्रताप से आकाश में चमकते हुए खड़े हो कहा—“महाराज ! मैं देवेन्द्र शक्र हूँ। ‘यह संसार नष्ट हो रहा है’ जान आया। अब जो भी मरते हैं वे अधर्मचारी होने के कारण नरक जाते हैं, देवलोक खाली-सा रह गया है। अब से ‘अधर्मियों से कैसे बरतना चाहिये’ देखूँगा। तुम अप्रमादी रहो।” इस प्रकार चार याद रखने योग्य गाथाओं द्वारा धर्मोपदेश दे, मनुष्यों को दान-शील में प्रतिष्ठित कर, पतनोन्मुख (बुद्ध) शासन को और भी हजार वर्ष टिके रहने योग्य बना, मातली को ले, अपने निवास स्थान को गया।

(जातक— IV, पृष्ठ— 380-384)

## 25. “कूट तपस्वी”

उज्जयनी नामक नगरी में अत्यन्त कूट कपट का व्यसनी अघोर शिव नामक महा तुच्छ ब्राह्मण रहता था। इन्द्रजाल के समान माया से लोगों को ठगने की प्रवृत्ति करता था। इससे लोगों ने नगर में से निकाल दिया था। वह अन्य देश में चला गया, वहाँ पर हल्के चोर लोगों के साथ मिल गया और अति विरोधी आशय वाले उसने उनको कहा कि-यदि तुम मेरी सेवा करो, तो मैं साधु होकर निश्चय से लोगों के धन का सही

स्थान को जानकर तुम्हें कहूँगा, फिर तुम भी सुखपूर्वक उसे चोरी करना। चोर लोगों ने वह सारा स्वीकार किया और वह भी त्रिदंडी वेश धारण कर तीन गाँवों के बीच के उपवन में जाकर रहा। तथा उन चोर लोगों ने जाहिर किया कि-यह ज्ञानी और महातपस्वी महात्मा है। एक महीने में आहार लेते हैं। उसे बहुत कष्टों से थका हुआ और स्वभाव से ही दुर्बल देखकर लोग ‘यह महातपस्वी है’ ऐसा मानकर परम भक्ति से उसकी पूजा करने लगे। उसको वे अपने घर आमंत्रण देते, हृदय की सारी बातें कहते, निमित्त पूछते और वैभव के विस्तार को कहते थे। इस तरह प्रतिदिन उसकी सेवा करने लगे। परन्तु वह बगवृत्ति से अपने आपको लोगों को उपकारी रूप में दिखाता और चोरों को उनके भेद कहता था और रात्री में चोरों के साथ मिलकर वह पापी घरों का धन चोरी करता था। कालक्रम से वहाँ ऐसा कोई मनुष्य न रहा कि जिसके घर चोरी न हुई हो।

एक समय वे एक घर में सेंध खोदने लगे और घर के मालिक ने वह जान लिया, इससे उसने सेंध के मुख के पास खड़े रहकर देखा और एक चोर को सर्प के समान घर में प्रवेश करते पकड़ा, दूसरे सभी भाग गए। प्रभात का समय होते ही चोर को राजा को अर्पण किया। राजा ने कहा कि—यदि तू सत्य कहेगा तो तूझे छोड़ दिया जाएगा। फिर उसे छोड़ दिया तो भी उसने सत्य नहीं कहा, तब चाबुक, दण्ड, पत्थर और मुट्ठी से बहुत मारते उसने सारा वृत्तान्त कहा, इससे शीघ्र ही उस त्रिदंडी को भी बाँधकर उपवन में से ले आया और वहाँ तक उसे इतना मारा कि जब तक उसने भी अपना दुराचार को स्वीकार नहीं किया। फिर वेद जानकर ब्राह्मण का पुत्र मानकर राजा ने उसकी दोनों आँखें निकाल दीं और तिरस्कार करके उसी समय उसे नगर से निकाल दिया। बाद में भिक्षार्थ घूमते, लोगों से तिरस्कार प्राप्त करते और दुःख से पीड़ित होते, वह ‘हाय ! मैंने यह क्या किया ?’ इस तरह अपने आपका शोक करने लगा।

(‘श्री संवेगरंगशाला’ पेज नं. 403)

## 26. विनय

वत्सदेश में कौशम्बी पुरी में भगवद्भवत राजा धनसेन तथा रानी श्राविका धन श्री। सुप्रतिष्ठ नाम वाला वह बिना गए राजा के अग्रासन पर भोजन करता था और जल स्तम्भिनी विद्या के सामर्थ्य से यमुना नदी में जाया करता था। विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर चक्र-वालपुर में विद्याधर राजा, विद्युत्व प्रभु, श्रावक तथा भगवद्भवत रानी विद्युद्वेगा थी। एक बार वन्दना करने के लिए वे कौशम्बी नगरी

में आए। माघ मास में यमुना नदी में उसके स्नान और जल के ऊपर जाप को देखकर विद्युद्वेगा ने अत्यन्त प्रशंसा के अनन्तर राजा के साथ उसका वाद हुआ। विद्युत्व प्रभु ने कहा—आओ, इसकी दृढ़ता और अज्ञानता को दिखाता हूँ। अनन्तर चाण्डाल रूप में यमुना के ऊपर जाकर दोनों ने बनावटी चमड़े और माँस से समस्त जल दूषित कर दिया। अनन्तर रुष्ट होकर कह कर नदी के ऊपर जाकर उसके स्नानादिक प्रारम्भ किया। पुनः जाकर दोनों चाण्डालों ने उसी प्रकार जल को दूषित कर दिया। पुनः वह भी उसी प्रकार ऊपर गया। इस प्रकार बहुत बार दोनों चाण्डालों के द्वारा दूषित जल में जप, स्नान, गर्व तथा पवित्रता त्याग कर वह मोह को प्राप्त हो गया। अनन्तर दोनों चाण्डालों ने उद्यान, प्रासाद, झूला, भोजन, गीत, वाद्यादि तथा आकाश में गमन दिखलाया। उसी से ही विद्याधरों की ऐसी विद्या नहीं है। जैसी चाण्डालों की, इस विद्या के द्वारा मैं सारे जगत को धोखा दूंगा, ऐसा मन में विचार, उनके समीप जाकर उनसे पूछा—आप सब कैसे आए? कैसे आप दोनों इस प्रकार का आश्चर्य कर रहे हैं? मातङ्ग ने कहा—तुम भी नहीं जानते हो! मैं मातङ्ग हूँ, नमस्कार करने के लिए आए हुए मुझे मेरे गुरु ने सन्तुष्ट होकर विद्या दी है, उससे मैं यह सब करता हूँ। उसने कहा—कृपा कर यह विद्या मुझे दे दो। चाण्डाल ने कहा—तुम उत्तम कुल वाले अकृत्रिम वेदपाठक हो। विद्या विनय से सिद्ध होती है। जहाँ मुझे देखो, वहाँ साष्टाङ्ग प्रणाम करो और तुम्हारी कृपा से जी रहा हूँ, कहते हो तो सिद्ध होने पर भी नष्ट हो जाएगी। उसने कहा—जैसी आज्ञा दें, वैसा करूँगा। ऐसा कहने पर विधिपूर्वक विद्या देकर वे दोनों चाण्डाल अपने निवास को गए। वह भी उस विद्या से विक्रिया कर 'विद्या सिद्ध हो गई है।' यह जानकर बहुत देर बाद राजा के पास गया।

राजा ने पूछा—भगवन्! आज समय का अतिक्रम क्यों हो गया? उसने कहा—बहुत समय के तप के माहात्म आज हरि, हर, ब्रह्मादिक देव मुझे पूजने के लिए आए उस कारण बहुत समय तक मेरा आकाश में गमना गमनादि हुआ। राजा ने कहा—भगवन्! प्रातःकाल वह सब मुझे दिखाओ। मठ में प्रातःकाल दिखाऊँगा, ऐसा कहकर भोजन कर चला गया। जब वह प्रातःकाल मठ में राजदिक को ब्रह्मादिक दिखला रहा था तभी वे दोनों, चाण्डाल आ गये। ये दोनों निकृष्ट चाण्डाल हैं, इत्यादि कहने से वह विद्या नष्ट हो गई, राजा ने पूछा—भगवन्! कारण क्या है? उसके द्वारा यथार्थ बात कहे जाने पर राजा ने प्रणाम कर चाण्डाल से विद्या मांगी। चाण्डाल के द्वारा पहला नियम कहे जाने पर तीन प्रदक्षिणा देकर प्रणाम कर, दिव्य विद्या को लेकर परीक्षा कर राजा नगर में प्रविष्ट हुआ। एक बार जब राजा राज—सभा में बैठा हुआ था तो वह चाण्डाल आया। राजा ने कही हुई विधि से प्रणाम किया। विद्याधरपना

प्रकट कर विद्युत्प्रभु ने धनसेन को अन्य विद्यायें दीं। पश्चात् वह धनसेन विद्युद्वेग तथा अन्य श्रावक हो गए। इसी प्रकार साधु को भी विनय करना चाहिए।

(कथा कोश) आराधना कथा प्रबन्ध (पृ.—241)

## 27. देवर्षि नारद

ब्रह्मरूचि नाम का एक ब्राह्मण था और उसकी कूर्मी नामक स्त्री थी। ब्राह्मण तापस होकर वन में रहने लगा और फल तथा कन्द मूल आदि भक्षण करने लगा। ब्राह्मणी भी इसके साथ रहती थी सो ब्राह्मण ने इसमें गर्भ धारण किया। अथानन्तर किसी दिन संयम के धारक निर्ग्रन्थ मुनि कहीं जा रहे थे, सो मार्गवश उस स्थान पर आये और श्रम को दूर करने वाले उस आश्रम में थोड़ा देर के लिए विश्राम करने लगे। उसी आश्रम में उन मुनियों ने उस ब्राह्मण दम्पति को देखा, जिनका कि आकार तो उत्तम था, पर कार्य निन्दनीय था। जिसका शरीर पीला था, स्तन स्थूल थे, जो दुर्बल थे, गर्भ के भार से म्लान थी और साँसे भरती हुई सर्पिणी के समान जान पड़ती थी ऐसी स्त्री को देखकर संसार के स्वभाव को जानने वाले उदार हृदय मुनियों के मन में दयावश उक्त दम्पति को धर्मोपदेश देने का विचार उत्पन्न हुआ। उन मुनियों के बीच में जो बड़े मुनि थे, वे मधुर शब्दों में उपदेश देने लगे। उन्होंने कहा कि बड़े खेद की बात है देखो, ये प्राणी कर्मों के द्वारा कैसे नचाये जाते हैं? हे तापस! तूने संसार-सागर से पार होने की आशा से धर्म समझ भाई बन्धुओं का त्याग कर स्वयं अपने आपको इस वन के मध्य क्यों कष्ट में डाला है? अरे भले-मानुष-तूने प्रव्रज्या धारण की है पर तुझ में गृहस्थ से भेद ही क्या है? तूने जो चरित्र धारण किया था उसके तू प्रतिकूल चल रहा है। केवल वेष ही तेरा दूसरा है। पर चरित्र तो गृहस्थ जैसा ही है। जिस प्रकार मनुष्य वमन किये हुए अन्न को फिर नहीं खाते हैं उसी प्रकार विज्ञान जिन विषयों का परित्याग कर चुकते हैं फिर उनकी इच्छा नहीं करते। जो लिंग धारी साधु एक बार स्त्री का त्याग कर पुनः उसका सेवन करता है वह पापी है और मरकर भयंकर अटवी में भेड़िया होता है। जो सब प्रकार के आरम्भ में स्थित रहता हुआ, अब्रह्म सेवन करता हुआ और नशा में निमग्न रहता हुआ भी 'मैं दीक्षित हूँ' ऐसा अपने आपको जानता है वह अत्यन्त मोही है। जो ईर्ष्या और काम से जल रहा है, जिसकी दृष्टि दुष्ट है, जिसकी आत्मा दूषित है और जो आरम्भ में वर्तमान है अर्थात् जो सब प्रकार के आरम्भ करता है उसकी प्रव्रज्या कैसी? तुम्हीं कहो। जो कुदृष्टि से गर्वित है, मिथ्यावेशधारी है, और जिसका मन विषयों के आधीन है फिर भी अपने आपको तपस्वी कहता है वह झूठ

बोलने वाला है, वह व्रती कैसे हो सकता है। जो सुखपूर्वक उठता-बैठता और विहार करता है तथा जो सदा भोजन एवं वस्त्रों में बुद्धि लगाये रखता है फिर भी अपने आपको सिद्ध मानता है वह मूर्ख अपने आपको धोखा देता है। जिस प्रकार जलते हुए मकान से कोई किसी तरह बाहर निकलने और फिर से अपने आपको उसी मकान में फेंक दे तो वह मूर्ख ही समझा जाता है। अथवा जिस प्रकार कोई पक्षी छिद्र पाकर पिंजड़े से बाहर निकल आवे और अज्ञान से प्रेरित हो पुनः उसी में लौट आवे तो यह उसकी मूर्खता ही है। उसी प्रकार कोई मनुष्य दीक्षित होकर पुनः इन्द्रियों की अधीनता को प्राप्त हो जावे तो वह लोक में निन्दित होता है और आत्मकल्याण को प्राप्त नहीं होता। जिनका चित्त एकाग्र है ऐसे सर्वपरिग्रह का त्याग करने वाले मुनि ही ध्यान करने योग्य तत्त्व का ध्यान कर सकते हैं। तुम्हारे जैसे आरम्भी मनुष्य नहीं। परिग्रह की संगति से प्राणी के रागद्वेष की उत्पत्ति होती है। राग से काम उत्पन्न होता है और द्वेष से जीवों का विघात होता है, जो काम और क्रोध से अभिभूत ही रहा है, उसका मन मोह से आक्रान्त हो जाता है और जो करने योग्य तथा न करने योग्य कर्मों के विषय में मूढ़ है, उसकी बुद्धि विवेकयुक्त नहीं हो सकती। जो मनुष्य इच्छानुसार चाहे जो कार्य करता हुआ अशुभ कर्म का उपार्जन करता है। इस भयंकर संसार-सागर में उसका भ्रमण कभी भी बन्द नहीं होता। ये सब दोष संसर्ग से ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानकर विद्वान लोग अपने आपके द्वारा अपने आपको नियंत्रण कर वैराग्य को धारण करते हैं। इस प्रकार परमार्थ का उपदेश देने वाले वचनों से सम्बोधा गया। ब्रह्मरुचि ब्राह्मण मिथ्यात्व से च्युत हो दैगम्बरी दीक्षा को प्राप्त हुआ और अपनी कूर्मी नामक स्त्री से निःस्पृह हो महा वैराग्य से युक्त होता हुआ गुरु के साथ सुखपूर्वक विहार करने लगा। उसका गुरुस्नेह ऐसा ही था। कूर्मी ने भी जान लिया कि जीव का संसार में जो परिभ्रमण होता है वह राग के वश ही होता है। ऐसा जानकर वह पाप कार्य से विरत हो शुद्धाचार में निमग्न हो गयी। वह मिथ्यामार्गियों का संसर्ग छोड़कर सदा जिन-भक्ति में ही तत्पर रहने लगी। उस धैर्यशालिनी ने दसवें मास में शुभ पुत्र उत्पन्न किया। पुत्र को देखकर कर्मों की चेष्टा को जानने वाली कूर्मी ने विचार किया कि चूँकि महर्षियों ने इस सम्पर्क को अनर्थ का कारण कहा था, इसलिए मैं इस सम्पर्क अर्थात् पुत्र की संगति को छोड़कर आत्मा का हित करती हूँ। इस शिशु ने भी अपने भवान्तर में जो कर्मों की विधि अर्जित की है उसका यह अच्छा या बुरा फल भोगेगा। घनघोर अटवी, समुद्र अथवा शत्रुओं के पिंजड़े में स्थित जन्तु की अपने आपके द्वारा किये हुए कर्म की रक्षा करते हैं अन्य लोग नहीं। जिसका काल आ जाता है ऐसा स्वकृत कर्मों की अधीनता को प्राप्त हुआ जीव माता की गोद में स्थित होता हुआ भी मृत्यु के द्वारा हर लिया जाता

है। इस प्रकार तत्त्व को जानने वाली तापसी ने निरपेक्ष बुद्धि से उस बालक को वन में छोड़ दिया। तदनन्तर मत्सर भाव से रहित होकर वह बड़ी शान्ति से आलोक नगर में इन्द्रमालिनी नामक आर्यिका की शरण में गयी और उनके पास बहुत भारी संवेग से उत्तम चेष्टा की धारक आर्यिका हो गयी।

अथानन्तर-आकाश में जृम्भक नामक देव जाते थे सो उन्होंने शोदनादि क्रिया से रहित उस पुण्यात्मा बालक को देखा। उन दयालु देवों ने आदर से ले जाकर उसका पालन किया और उसे रहस्य सहित समस्त शास्त्र पढ़ाये। विद्वान होने पर उसने आकाश गामिनी विद्या प्राप्त की और परम यौवन प्राप्त कर अत्यन्त दृढ़ अणुव्रत धारण किये। उसने चिन्हों से पहचानने वाली माता के दर्शन किये और उसकी प्रीति से अपने पिता निर्ग्रन्थ गुरु के भी दर्शन कर सम्यग्दर्शन धारण किया। क्षुल्लक का चारित्र प्राप्त कर वह जटारूपी मुकुट को धारण करता हुआ अवद्वार के समान हो गया अर्थात् न गृहस्थ ही रहा और न मुनि ही किन्तु उन दोनों के मध्य का हो गया। वह कन्दर्प, कौत्कुच्य और मौख्यर्ष्य से अधिक स्नेह रखता था, कलह देखने की सदा उसे इच्छा बनी रहती थी, वह संगीत का प्रेमी और प्रभावशाली था। राजाओं के समूह उसका सम्मान करते थे, उसके आगमन में कभी कोई रुकावट नहीं करते थे अर्थात् वह राजाओं के अन्तःपुर आदि सुरक्षित स्थानों में भी बिना किसी रुकावट के आ-जा सकता था और निरन्तर कुतूहलों पर दृष्टि डालता हुआ आकाश तथा पृथ्वी में भ्रमण करता रहता था। देवों ने उसका पालन-पोषण किया था, इसलिए उसकी सब चेष्टाएं देवों के समान थीं। वह देवर्षि नाम से प्रसिद्ध था और विद्याओं से प्रकाशमान तथा आश्चर्यकारी था।

(पद्मपुराणम्, पृ. 246)

## 28. 'मजाक से भी दूसरों को न सताये'

शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय देवदत्त के पृथ्वी-प्रवेश के बारे में कही। उसके जमीन में समा जाने पर धर्म-सभा में बातचीत चली—'आयुष्मानो ! देवदत्त अपने अनुयायियों- सहित विनाश को प्राप्त हुआ।' शास्ता ने आकर पूछा—'भिक्षुओं ! बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?' 'अमुक बातचीत।' भिक्षुओं ! वह अपने अनुयायियों सहित केवल अभी विनाश को प्राप्त नहीं हुआ, पहले भी हुआ है' कह पूर्व जन्म की कथा कही—

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व बन्दर की

योनि में पैदा हुए। अपने पाँच-सौ अनुयायियों के साथ वह राजा के बाग में रहते थे। देवदत्त भी बन्दर की योनि में पैदा हो पाँच-सौ अनुयायियों के साथ वह राजा के बाग में रहते थे। देवदत्त भी बन्दर की योनि में पैदा हो पाँच-सौ अनुयायियों के साथ वहीं रहता था। एक दिन जब पुरोहित बाग से नहा-सजकर बाहर निकल रहा था, एक चञ्चल बन्दर ने पहले से जा बाग के दरवाजे के तोरण पर बैठ उसके ऊपर पखाना कर दिया। जब ऊपर देखने लगा तो मुँह में गिरा दिया। उसने रुककर कहा—“अच्छा देखूँगा तुम्हारी करतूत।” और बन्दरों को डराकर तथा नहाकर चला गया। बोधिसत्व को सूचना मिली कि पुरोहित ने बन्दरों से बैरकर उन्हें डराया है। उसने सारे हजार के हजार बन्दरों को कहलवाया कि जहाँ बैरी रहता हो वहाँ नहीं रहना चाहिये। सारे बन्दर-समूह को भागकर अन्यत्र चला जाना चाहिए। बात न मानने वाले (देवदत्त) ने सोचा कि मैं अपने अनुयायियों के साथ पीछे विचार करूँगा और भागा नहीं। बोधिसत्व अपने अनुयायियों को साथ ले जंगल में जा घुसे।

एक दिन धान कूटने वाली दासी ने धूप में फैलाये अपने धानों को खाने वाली एक बकरी को जलती लकड़ी से मारा। उसके शरीर में आग लग गई। उसने भागते-भागते एक हस्ति-शाला के साथ बनी घास की झोपड़ी की दीवार से अपना शरीर रगड़ा। घास की झोपड़ी में आग लग गई। घास की झोपड़ी से हस्ति-शाला में जा लगी। शाला में हाथियों की पीठ जल गई। हस्ति-वैद्य हाथियों की चिकित्सा करने लगे। पुरोहित भी बन्दरों को पकड़वाने का उपाय सोचता घूमता था। राजा की सेवा में आने पर राजा ने पूछा—“आचार्य्य ! बहुत से हाथियों को जख्म हो गये। हस्ति-वैद्य चिकित्सा करना नहीं जानते हैं। क्या तुम कोई दवाई जानते हो ?”

“महाराज ! जानता हूँ।”

“क्या है ?”

“महाराज ! बन्दर की चर्बी।”

“कहाँ पायेंगे ?”

“उद्यान में बहुत बन्दर हैं।”

राजा ने आज्ञा दी—“उद्यान में बन्दरों को मारकर चर्बी लाओ।” धनुर्धारियों ने जाकर सभी पाँच-सौ बन्दरों को तीरों से बींधकर मार दिया। एक ज्येष्ठ बन्दर भाग निकला। उसे भी तीर लगा, किन्तु वह वहीं न गिरा जहाँ बोधिसत्व रहते थे, वहाँ पहुँचकर गिरा। वानरों ने देखा कि हमारे निवास स्थान पर पहुँचकर मरा है। उन्होंने उसके चोट खाकर मरने की बात बोधिसत्व से कही। बोधिसत्व ने आकर बन्दरों के

बीच बैठ ‘पण्डित का कहना न मान बैरियों के बीच रहने वाले इसी प्रकार नष्ट होंगे’ प्रकट करने के लिये बन्दरों को उपदेश देते हुए यह गाथायें कहीं—

यत्थ वेरी निवसति न वसे तत्थ पण्डितो,  
एकरतिं दि रत्तं वा दुक्खं वसति वेरिसु ॥  
दिसो वे लहुचित्तस्स पोसस्स अनुविधीयतो,  
एकस्स कपिनो हेतु यूथस्स अनथो कतो ॥  
वालो च पण्डितमानी यूथस्स परिहारको,  
सचित्तस्स वसं गन्त्वा सयेथायं यथा कपि ॥  
न साधू बलवा बालो यूथस्स परिहारको,  
अहितो भवति जातीनं सकुणानं व चेतको ॥  
धीरो च बलवा साधू यूथस्स परिहारको,  
हितो भवति जातीनं तिदसानं व वासवो ॥  
यो च सीलञ्च पञ्च सुतज्वत्तनि पस्सति,  
उभिन्नमत्थञ्जरति अत्तनो च परस्स च ॥  
तस्मा तुलेय्यमत्तान सीलपञ्जासुतामिव,  
गणं वा परिहरे धीरो एको वापि परिब्बजे ॥ ( 1-7 ) ॥

पण्डित को चाहिये कि जहाँ बैरी रहता हो, वहाँ एक-रात दो-रात भी वास न करे, क्योंकि बैरी के साथ रहने से दुःख होता है। अस्थिर-चित्त पुरुष का अनुकरण करने वाले का वह (अस्थिर-चित्त) शत्रु होता है। एक बन्दर के कारण सभी बन्दरों की हानि हुई। जो मूर्ख है, लेकिन अपने को पण्डित समझता है वह यदि समूह का नेता होता है तो वह अपने चित्त के वशीभूत हो इस बन्दर की तरह मरता है। मूर्ख शक्तिमान् हो तो भी उसका समूह का नेता होना अच्छा नहीं है। क्योंकि वह अपनी जाति वालों का ही अहितकारी होता है। जैसे बोलने वाला तीतर अन्य तीतरों का। धैर्यवान् हो और शक्तिमान् हो तो उसका समूह का नेता होना अच्छा है। क्योंकि वह अपनी जाति वालों का हितकारी होता है, जैसे इन्द्र देवताओं का। जो देखता है कि उसमें शील है, प्रज्ञा है और ज्ञान है, वह दोनों का हित करता है, अपना भी और दूसरों का भी। इसलिये अपने को तोले कि अपने में शील, प्रज्ञा तथा ज्ञान है या नहीं। यदि हो तो फिर चाहे गण का नेतृत्व करे चाहे अकेला घूमे।

इस प्रकार बोधिसत्व ने कपि-राज होकर भी विनयानुकूल चर्या कही।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला सत्यों का प्रकाशन कर जातक का मेल बैठाया। उस समय बात न मानने वाला बन्दर देवदत्त था। उसकी परिषद भी देवदत्त-परिषद थी। पण्डित कपिराज तो मैं ही था।

(जातक कथा, पृ. 19)

## 29. 'साधु - वृत्ति : असंग्रह वृत्ति'

यह शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय भैषज्य-संग्रह करने सम्बन्धी शिक्षा-पद के बारे में कही।

यह घटना राजगृह में घटी। आयुष्मान पिलिन्दवच्छ ने विहार से विशेष सम्बन्ध रखने वाले परिवारों को मुक्त करने के लिये राजभवन में पहुँच ऋद्धि-बल से राजा के प्रासाद को स्वर्णमय कर दिया। मनुष्यों में श्रद्धा पैदा हुई। उन्होंने स्थविर के पास पाँच प्रकार की भैषज्य भेजी। उसने वह अपने अनुयायियों को दे दी। उसके अनुयायी बाहुलिक थे, बहुत चीजों को बटोरकर रखने वाले। जो-जो मिला, उसे बरतनों में भी, घड़ों में भी, पात्रों में भी, थैलियों में भी भरकर छिपा दिया। आदमियों ने देखा तो उन्हें गुस्सा आया-यह झूठे श्रमण हैं। भीतर से कोठी-वाले हैं। शास्ता ने यह समाचार सुना तो शिक्षा पद की घोषणा कर कहा—“भिक्षुओं ! प्राचीन समय में जब बुद्ध उत्पन्न नहीं हुए थे, पण्डितों ने जो (बुद्ध-शासन से) बाहरी तौर पर प्रव्रजित थे और जो पाँच शीलमात्र की रक्षा करने वाले थे, नमक के कंकर को भी दूसरे दिन के लिए रखने वालों की निन्दा की है। तुम इस कल्याणकारी शासन में प्रव्रजित हो दूसरे तीसरे दिन के लिये इस प्रकार संग्रह करते हुए अनुचित कर रहे हो।” यह कह पूर्व जन्म की कथा कही।

पूर्व समय में गन्धार राष्ट्र में बोधिसत्व गन्धार-नरेश के पुत्र होकर पैदा हुए। पिता के मरने पर राजगद्दी पर बैठे धर्म से राज्य करने लगे। मध्य प्रदेश के विदेह-राष्ट्र में विदेह नामक राजा राज्य करते थे। उन दोनों राजाओं ने एक-दूसरे को नहीं देखा था। तो भी वे मित्र थे। उनका परस्पर दृढ़ विश्वास था। उस समय मनुष्यों की आयु अधिक होती थी-तीस हजार वर्ष जीते थे।

एक दिन गन्धार-राजा पूर्णिमा-उपोसथ के दिन शील लेकर (प्रासाद के) ऊँचे तल्ले पर बिछे श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठा। खुली खिड़की से पूर्व दिशा की ओर देखता हुआ अमात्यों को धार्मिक बातचीत सुना रहा था। उस समय आकाश को लाँघते हुए पूर्व चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया। चन्द्र प्रभा अन्तर्धान हो गई। अमात्यों को चन्द्रमा

का प्रकाश नहीं दिखाई दिया। उन्होंने चन्द्रमा के ग्रसे जाने की बात राजा को कही।

राजा ने चन्द्रमा को देखते हुए सोचा—“यह चन्द्रमा बाहरी क्लेश से क्लिष्ट होकर प्रभाहीन हो गया। मेरे लिए भी यह राज-परिवार उपक्लेश ही है। यह मेरे लिए उचित नहीं है कि मैं राहु द्वारा गृहीत चन्द्रमा की तरह प्रभाहीन हो जाऊँ। शुद्ध आकाश में चमकने वाला चन्द्रमा की तरह राज्य को त्यागकर प्रव्रजित होऊँगा। मुझे दूसरे को उपदेश देते रहने से क्या लाभ? कुल और गण से पृथक हो अपने ही को उपदेश देता हुआ विचरूँगा। यही मेरे अनुकूल है।”

तब उसने राज्य अमात्यों को सौंपते हुए कहा—“जो चाहो सो करो।” वह राज्य छोड़, ऋषियों के प्रव्रज्या-क्रम के अनुसार प्रव्रजित हो, ध्यान-लाभ कर ध्यान-सुख भोगता हुआ हिमालय में रहने लगा।

विदेहराज ने व्यापारियों से अपने मित्र का कुशल-समाचार पूछा। उसने यह सुनकर कि वह प्रव्रजित हो गया सोचा—“मेरा मित्र प्रव्रजित हो गया तो मैं राज्य करके क्या करूँगा?” उसने सात योजन के मिथिला नगर के राज्य, तीन सौ योजन के विदेह-राष्ट्र के सोलह हजार ग्रामों में भरे हुए भण्डार और सोलह हजार नाटक-स्त्रियों को छोड़ दिया, और (वृक्षों से) गिरे फलों का आहार करता हुआ समचर्यापूर्वक विचरने लगा।

वे दोनों समचर्यापूर्वक विचरते हुए आगे चलकर एक जगह मिले, किन्तु, एक दूसरे को पहचाना नहीं। प्रसन्नतापूर्वक साथ-साथ रहने लगे। विदेह-तपस्वी गन्धार-तपस्वी की सेवा में रहता।

वे दोनों पूर्णिमा के दिन एक वृक्ष के नीचे बैठे धार्मिक बातचीत कर रहे थे। उस समय आकाश में प्रकाशित चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया। विदेह-तपस्वी ने सोचा, क्या कारण है कि चन्द्र प्रभाहीन हो गया है? चन्द्रमा को राहु द्वारा ग्रसा देख पूछा—“आचार्य्य ! यह कौन है, जिसने चन्द्रमा को ग्रस कर प्रभाहीन कर दिया है?”

“शिष्य ! यह चन्द्रमा का एक उपक्लेश है जो उसे चमकने नहीं देता। मैंने भी राहु ग्रसित चन्द्रमा को देखा तो सोचा कि जैसे यह शुद्ध चन्द्र-मण्डल बाहरी उपक्लेश से प्रभाहीन हो गया है, उसी प्रकार यह राज्य भी उपक्लेश है। इसके पहले कि यह मुझे राहु के चन्द्रमा को प्रभाहीन करने की तरह प्रभाहीन कर दे मैं प्रव्रजित हो जाऊँ। इसी राहु-ग्रसित चन्द्रमा का ख्याल कर राज्य छोड़ मैं प्रव्रजित हुआ।”

“आचार्य्य ! क्या तुम गन्धार-नरेश हो ?”

“हाँ, मैं हूँ।”

“आचार्य्य ! मैं भी विदेह-राष्ट्र में मिथिला नगर में विदेह राजा था । हम एक-दूसरे को न देखे मित्र थे न ?”

“तुझे क्या ख्याल हुआ ?”

“मैंने जब यह सुना कि तुम प्रव्रजित हो गए तो प्रव्रज्या के गुण देख और तुम्हारा ध्यान करके ही प्रव्रजित हुआ ।”

तब से वे अति प्रसन्नचित्त हो (वृक्ष से) गिरे फलों को खाकर रहने लगे । वहाँ दीर्घकाल तक रह नमक-खटाई खाने के लिए हिमालय से उतर एक प्रत्यन्त-ग्राम में आये । मनुष्यों ने उनकी चर्या से प्रसन्न हो भिक्षा दी और उन्हें वचनबद्ध कर जंगल में रात्रि-निवास के योग्य स्थान आदि बना वहीं बसाया । रास्ते में भोजन करने के लिए पानी के सुभीते की जगह पर पर्ण-कुटी बनवा दी । वे प्रत्यन्त ग्राम में भिक्षा माँग वहाँ बैठकर भोजन करते और फिर अपने निवास स्थान को चले जाते ।

वे मनुष्य उन्हें भोजन देते तो कभी पत्ते पर नमक देते, कभी पत्ते का दोना बाँधकर उसमें नमक देते और कभी बिना नमक का आहार भी देते । एक दिन उन्होंने पत्तों के दोने में बहुत-सा नमक दिया । विदेह-तपस्वी ने नमक ले बोधिसत्व के भोजन करने के समय उसे बहुत-सा दे और अपने यथोचित ले शेष नमक को ‘नमक न मिलने के दिन काम में आएगा’ सोच पत्ते के दोने में बाँध, घास की बत्ती के बीच में रख दिया ।

एक दिन बिना नमक का आहार मिला तो विदेह-तपस्वी ने गन्धार तपस्वी को उसका भिक्षा-पात्र दिया और घास की बत्ती में नमक लाकर कहा—“आचार्य्य ! नमक लें ।”

“आज तो लोगों ने नमक नहीं दिया, तुझे कहाँ से मिला ?”

“आचार्य्य ! एक दिन पहले लोगों ने बहुत नमक दे दिया था । मैंने ‘नमक न मिलने के दिन काम आएगा’ सोच शेष नमक रख दिया ।” बोधिसत्व ने उसे डाँटा—“मूर्ख ! तीन सौ योजन का विदेह-राष्ट्र छोड़कर प्रव्रजित हुआ और अकिञ्चन होकर अब नमक की कंकरी में तृष्णा पैदा करता है ?” उसे उपदेश देते हुए बोधिसत्व ने पहली गाथा कही—

हित्वा गाम सहस्सानि परिपुष्णानि सोलस,

कोट्टागारानि फीतानि सन्निधिदानि कुब्बसि । (1) ।

हजारों गाँव और सोलह हजार समृद्ध भरे हुये भण्डारों को छोड़कर अब संग्रह करता है ।

गंधार-तपस्वी की इस प्रकार की निन्दा उसे सहन नहीं हुई । उसने विरोधी बन कहा—“आचार्य्य ! तुम अपना दोष नहीं देखते । तुम मेरा ही दोष देखते हो । क्या तुम यह सोचकर प्रव्रजित नहीं हुए थे कि मुझे किसी दूसरे को उपदेश देने से क्या लाभ, मैं अपने को ही उपदेश दूँगा ? तुम मुझे अब किस लिए उपदेश देते हो ।” उसने दूसरी गाथा कही—

हित्वा गन्धारविसयं पहूतधनधानियं,

पसासनातो निकखन्तो इधदानि पसाससि । (2) ।

धन-धान्य से भरा हुआ गन्धार राज्य छोड़कर दूसरों को उपदेश देने से विरक्त हुये । अब फिर उपदेश देते हो ?

यह सुन बोधिसत्व ने तीसरी गाथा कही—

धम्मं भणामि वेदेह अधम्मो मे न रुच्चति,

धम्मं मे भणमानस्स न पापमुपलिप्पति । (3) ।

मैं विदेह-तपस्वी को धर्म कहता हूँ, मुझे अधर्म अच्छा नहीं लगता मुझे धर्म कहने से पाप नहीं लगता ।

विदेह-तपस्वी ने बोधिसत्व की बात सुनकर कहा—“आचार्य्य ! हितकर बात कहनी हो तो भी दूसरे को चोट पहुँचकर गुस्से करके नहीं कहनी चाहिए । तूने मुझे कुंद उस्तरे से मूँडने की तरह बहुत कर्कश बात कही ।” उसने चौथी गाथा कही—

येनकेनचि वणणेन परो लभति रुप्पनं,

महत्थियम्मि चे वाचं न तं भासेय्य पण्डितो । (4) ।

पण्डित को चाहिए कि यदि दूसरे को किसी प्रकार का भी दुःख होता हो तो बड़ी हितकर बात भी न कहे ।

तब बोधिसत्व ने पाँचवी गाथा कही—

कामं रुप्पतु वा मा वा भुसं वा विकिरिच्चतु,

धम्मं मे भणमानस्स न पापमुपलिप्पति । (5) ।

चाहे दुःखी हो चाहे न हो, चाहे कथन को भूसे की तरह बिखेर दे, मुझे धर्म कहने से पाप नहीं लगता ।

यह कह और उपदेश देने के लिए अग्रलिखित दो गाथायें कहीं—

नो चे अस्स सका बुद्धि विनयो वा सुसिक्खितो,

वने अन्धमहिसोव चरेय्य बहुको जनो । (6) ।

यस्मा च पन इधेकच्चे आचारन्हि सुसिक्खिता,  
विनीतविनया धीरा चरन्ति सुसमहिता । (7) ।

यदि (किसी की) अपनी बुद्धि न हो और उसने रहन-सहन का उचित ढंग भी न सीखा हो तो वैसे जन उसी प्रकार विचरते हैं, जैसे वन में अन्धा भैसा । इसीलिए यहाँ कुछ सुशिक्षित, सुविनीतजन संयत ढंग से विचरते हैं ।

यह सुन विदेह-तपस्वी ने कहा—“आचार्य्य ! अब से मुझे उपदेश दिया करें । मैंने असहनशील होने के कारण आपको जो कहा, सो क्षमा करें ।”

वे एक साथ रहकर फिर हिमालय की ओर चले गये । वहाँ बोधिसत्व ने विदेह-तपस्वी को योग के लिए आधार बताया । उसने उसका अभ्यास कर अभिज्ञा तथा समापत्तियों को प्राप्त किया । वे दोनों ध्यान लाभी हो ब्रह्मलोकपरायण हुए ।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला जातक का मेल बैठाया । उस समय विदेह-तपस्वी आनन्द था । गन्धार राजा मैं ही था ।

(जातक IV, पृष्ठ— 26, 30)

### 30. बाल्यकाल के कुसंस्कार का फल

एक छोटा सा बालक पाठशाला में पढ़ने जाता था । एक दिन मध्यान्तर विश्राम के समय में जब बच्चे खेल-कूदने के लिए कक्षा से बाहर चले गए तब उसने एकांत समय में एक बालक का पैस उठाकर अपनी जेब में रख लिया । पाठशाला बंद होने पर वह बच्चा पाठशाला से अपने घर जाकर अपनी माता को वह पैस दिखाकर कहता है कि यह पैस मैं उठा कर लाया हूँ । माँ ने सोचा, मेरा बच्चा बिना रुपया दिये एक पैस लाया, बहुत अच्छा कार्य किया है, इस प्रकार विचार कर अपने पुत्र को डाँटे बिना शाबासी दी । इससे बच्चा प्रेरित होकर दिनों-दिन अधिक से अधिक चोरी करने लगा । चोरी करते-करते आगे जाकर वह डाकू बन गया । एक दिन पुलिस ने उसको पकड़कर न्यायाधीश के सम्मुख उपस्थित किया । न्यायाधीश ने उसके लिए फाँसी दंड की घोषणा कर दी । जिस समय में फाँसी दंड मिलने वाला था तो उसकी अंतिम इच्छा क्या है ? ऐसा पूछा गया तो उसने कहा कि मुझे अपनी माँ से मिलना है । उसकी इच्छानुसार उसकी माता को बुलाया गया । माँ के आने पर वह चोर अपनी माँ को, पास में बुलाकर, अंतिम प्रेम, आलिंगन एवं चुम्बन देने के लिए कहा । जब उसकी माँ चुम्बन देने लगी तब उसने अपनी माँ की नाक को दाँत से काट दिया । इस घटना से सब लोग आश्चर्यचकित हो गए । न्यायाधीश के द्वारा इसका कारण पूछने पर उस चोर

ने कहा कि श्रीमान् जी ! यह फाँसी दण्ड मुझे नहीं मिलना चाहिए, बल्कि मेरी माँ को मिलना चाहिए । चोर की इस बात को सुनकर उसका कारण पूछा ! चोर बोला जब मैं बालक था तब एक दिन मैं पहली बार चोरी करके एक पैस लाया था, तब मेरी माँ ने मेरे को 'चोरी करना दोष है' यह न कहकर मुझे शाबासी दी, इससे मैंने सोचा कि चोरी करना अच्छा है । जिसके कारण मैं आगे जाकर डाकू बना एवं आज प्राण-दंड का भागी बना । चोरी करने के लिए प्रेरणा-स्रोत मेरी माँ होने से यथार्थ से दण्ड मेरी माँ को मिलना चाहिए ।

उपरोक्त उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि माँ-बाप का संस्कार बच्चों पर बहुत अधिक पड़ता है । इसीलिये माँ-बाप का कर्तव्य होता है कि बच्चों को सुसंस्कारित करने के लिए विशेष पुरुषार्थ करें । बच्चों को सुसंस्कार देने वाले माता-पिता यथार्थ से योग्य माता-पिता हे । परन्तु जो योग्य संस्कार नहीं देते हैं तथा कुसंस्कार देते हैं, वे माता-पिता बच्चों के लिए शत्रु के समान हैं । महान् नीतिकार चाणक्य ने कहा है—

माता शत्रु पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।

न शोभन्ते सभा मध्ये हंस मध्ये बको यथाः ॥

जो माता-पिता अपने बच्चों को सुसंस्कार करके विद्या नहीं सिखाते हैं, ऐसी माता शत्रु तथा पिता वैरी हैं, क्योंकि विद्या एवं संस्कार से रहित संतान सुसंस्कृत भद्र व्यक्तियों की सभा में शोभायमान नहीं होती, जैसे हंसों के मध्य में बुगले की शोभा नहीं होती है ।

गुरु अनेक होते हैं, उसमें से श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ गुरु माता एवं उसके बाद पिता उसके बाद विद्या शिक्षा देने वाले गुरु हैं । अंतिम गुरु धार्मिक शिक्षा-दीक्षा देने वाले हैं । शिक्षा देने में माता-पिता का जो उच्च स्थान है उसके बारे में प्राचीन नीतिकारों ने कहा है—

उपाध्यायानांशाचार्य आचार्याणां शत पिता ।

सहस्रं तु पितुन माता गौरवेणातीश्यते ॥

दश उपाध्याय से उत्कृष्ट एक आचार्य्य हैं । १०० आचार्य्य से उत्कृष्ट एक पिता है, 100 पिता से उत्कृष्ट एक माता है अर्थात् १० लाख उपाध्याय जो संस्कार बच्चों पर डालते हैं वह एक माता डाल सकती है तथा 1 लाख उपाध्याय जो संस्कार डालते हैं, वह एक पिता डाल सकता है । इससे सिद्ध होता है कि बच्चों को संस्कारित करने के काम में माता का स्थान सर्वोपरि है, इसीलिए माताओं को सुसंस्कृत, सभ्य, धर्मात्मा, विदुषी होना चाहिए । इस युग के आदि काल में आदिनाथ भगवान् ने ब्रह्मी को

ब्राह्मीलिपि तथा सुन्दरी को अंकलिपि की शिक्षा देकर यह ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किये कि नारी शिक्षा सर्वोपरि है। आदिनाथ भगवान् ब्राह्मी और सुन्दरी को स्त्री शिक्षा का महत्व बताते हुए कहे थे—

विद्यावान् पुरुषो लोके सम्मत्ति याति कोविदैः ।

नारी च तद्वती धत्ते स्त्री-सुष्टेरग्रिमं पद ॥ (आदि पु.)

विद्या से संस्कृत पुरुष विश्व में विद्वान के द्वारा सम्मान को प्राप्त करता है, उसी प्रकार नारी भी विद्या से सुसंस्कृत होने पर नारी समाज में अग्रगण्य हो जाती है।

भारत के महान् क्रान्तिकारी नेता सुभाषचन्द्र बोस, राष्ट्र के लिए उत्कृष्ट माता की आवश्यकता सर्वोपरि मानते थे। राष्ट्र के लिए वे बोलते थे A good mother is better than hundred teachers अर्थात् माता सौ शिक्षकों से भी उत्कृष्टतम है। और भी कहते थे “You give me a hundred mothers I give you a good nations” अर्थात् आप मुझे 100 उत्तम माता दें मैं एक उत्तम राष्ट्र दूँगा। इसका भावार्थ यह है कि उत्तम व्यक्तियों का निर्माण, सुसंस्कृत उत्तम माताओं से होता है। जैसे शुद्ध स्वर्ण से जो अलंकार बनता है वह अलंकार भी शुद्ध होता है। बीज के अनुसार वृक्ष एवं वृक्ष के अनुसार फल आता है। मूल को सींचने से जैसे वृक्ष पुष्पित-पल्लवित होता है, उसी प्रकार नारी समाज को सुसंस्कृत उन्नत करने से मानव समाज भी पल्लवित, पुष्पित, सुसंस्कृत होता है। इसीलिए प्राचीन नीतिकारों ने कहा है—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।

जननी एवं जन्मभूमि स्वर्ग से भी महान् है ॥

योग्य-सुसंस्कृत वीरांगना माता जीजाबाई के कारण ही एक दुबला-पतला सामान्य सामंत का लड़का आगे जाकर छत्रपति शिवाजी बना। जीजाबाई बाल्यावस्था में शिवाजी को प्रेरणा देती थी एवं भारत माता, नारी जाति एवं संस्कृति, सभ्यता, धर्म की रक्षा करने के लिये बोलती थी। वे बोलती थी—अरे शिवा ! यदि तुमको महान् बनना है तो तेरे लिये, सोने के लिये पलंग नहीं, खाने के लिए सोने की थाली नहीं, परन्तु कठोर साधना रूप जीवन जीना पड़ेगा। यदि तुमको अपनी संस्कृति, नारी जाति आदि की रक्षा की परवाह नहीं है तो सोने के लिए पलंग है तथा खाने के लिए सोने की थाली है। समर्थ गुरु रामदास की प्रेरणा से शिवाजी एक धीर, वीर, गम्भीर, देशभक्त, स्वाधीनता प्रेमी राजा बना, जो आज भारतीय इतिहास में अमर है। यहाँ तक कि महाराष्ट्र में आज शिवाजी को शिव का अवतार मानकर पूजा करते हैं। उपरोक्त

ऐतिहासिक घटना से यह सिद्ध होता है कि मोह से ग्रसित होकर बच्चों का लालन-पालन नहीं करना चाहिए, किन्तु उन्हें महान् बनाने के उद्देश्य से करना चाहिए। नीतिकारों ने कहा भी है—

लालनात् बहवो दोषास्ताऽनाद्बहवो गुणाः ।

तस्मात् पुत्रं च शिष्यं ताडयेन्नतु लालयेत् ॥ 42 ॥

मोह युक्त होकर लालन करने से बहुत दोष उत्पन्न होते हैं। दुर्गुण को नष्ट करने के लिए एवं उचित मार्ग में लगाने के लिए ताड़न करने से अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। इसीलिए शिष्य और पुत्र को ताड़न करना चाहिए, लालन नहीं करना चाहिए।

लालयेत् पंचवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत् ।

प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रवदाचरेत् ॥ 43 ॥

शैशव अवस्था में बच्चे के अधिक संवेदनशील, निःसहाय, दुर्बल होने के कारण 5 वर्ष तक उनका लालन करना चाहिए। शैशव अवस्था में ताड़न, भर्त्सना करने से बच्चों में कुण्डित भाव, तनाव, हीनता, डर आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिए अधिक शैशवदशा में प्यार-दुलार, लालन-पालन करना चाहिए। पाँच वर्ष के बाद बच्चों के मन, इन्द्रियां, शरीर कुछ परिपक्व होते जाते हैं। इसलिए उस अवस्था में योग्य शिक्षा-दीक्षा-संस्कार देने के लिए कठोर अनुशासन करना चाहिए। किशोर अवस्था से जब बच्चे युवक अवस्था में पर्दापण करते हैं, तब उनमें कुछ आत्म-गौरव-स्वाभिमान जग जाता है। इसके साथ-साथ बाल्यावस्था की सरलता, ऋजुता, ग्रहण शक्ति, स्मरण-शक्ति, कुछ मद होने की संभावना होती है। इसीलिये पहले जिनको सुसंस्कार नहीं मिला है उन्हें इस अवस्था में अनुशासित करने पर वे सहज रूप से स्वीकार नहीं कर पाते हैं। इसीलिये इस अवस्था के बच्चों से प्यार एवं मृदुभाव से काम लेना चाहिए। (संस्कार) उपाध्याय कनकनन्दी

### 31. “मातृ द्रोह एवं लोभ का फल”

पूर्व समय में काश्यप-बुद्ध के समय वाराणसी में अस्सी करोड़ धनवाले सेठ का मित्र विन्दक नामक पुत्र रहता था। उसके माता-पिता स्रोतापत्री थे, किन्तु वह स्वयं दुष्शील तथा अश्रद्धावान् था। आगे चलकर जब पिता मर गया तो माता ने कुटुम्ब का विचार करते हुए कहा—“तात ! तूने दुर्लभ मनुष्यत्व प्राप्त किया है ! दान दे ! सदाचार की रक्षा कर ! उपोसथकर्म कर ! धर्म सुन !”

“माँ ! मुझे दानादि से प्रयोजन नहीं है। मुझे कुछ न कह। मैं यथा-कर्म (परलोक) जाऊँगा।” उसके ऐसा कहने पर भी एक बार पूर्णिमा के दिन माता बोली—

“तात ! आज महान् उपोसथ-दिन है। आज उपोसथ-व्रत कर विहार जा, सारी रात धर्मोपदेश सुनकर आ। मैं तुझे हजार दूँगी।”

उसने ‘अच्छा’ कह धन-लोभ से उपोसथ व्रत धारण किया और प्रातःकाल का भोजन कर विहार पहुँचा। वहाँ दिन भर रहा। रात को एक ऐसी जगह लेटा जहाँ एक भी धम्म-पद कान में न पड़े। वह सो गया और दूसरे दिन प्रातःकाल ही मुँह धोकर जाकर बैठा। माता यह सोच कि आज मेरा पुत्र धर्म सुन, धर्म कथिक स्थविर को साथ लेकर आयेगा, यवागु, खाद्य, भोजन तैयार कर, आसन बिछा प्रतीक्षा करती रही। अकेले ही आता देखा तो बोली—

“तात ! धर्म कथिक को क्यों साथ नहीं लाया ?”

“मुझे धर्म-कथिक से प्रयोजन नहीं है।”

“तो यवागु पी।”

“तुमने मुझे हजार देने को कहा था, वह दे। पीछे पीऊँगा।”

“तात पी ! बाद में मिल जायेंगे।”

“लेकर ही पीऊँगा।”

माता ने हजार की थैली सामने रख दी। उसने यवागु पी, हजार की थैली ले व्यापार करके थोड़े ही समय में लाख कमा लिये। तब उसे सूझा-नौका लेकर व्यापार करूँगा। उसने नौका तैयार कर माता से कहा—“माँ ! मैं नौका से व्यापार करूँगा।” माता ने मना किया—“तात ! तू अकेला पुत्र है। इस घर में धन भी बहुत है। समुद्र यात्रा में अनेक दुष्परिणाम होते हैं। मत जा।”

“जाऊँगा ही, मुझे नहीं रोक सकती।”

माँ ने हाथ पकड़ लिया—“तात ! मैं रोकती हूँ।”

उसने हाथ छोड़ा। माँ को पीटकर गिरा दिया। उसे दूर कर जाकर नाव ले समुद्र में कूदा। सातवें दिन नौका मित्र-विन्दक के कारण समुद्र तल पर निश्चल खड़ी हो गई। मनहूस आदमी को ढूँढने की शलाका चालू करने पर वह तीन बार मित्र-विन्दक के ही हाथ पर पड़ी। उस एक के कारण बहुतों का विनाश न हो सोच उसे फटा दे समुद्र में छोड़ दिया। उसी दिन नौकाएं तेजी से समुद्र में चलने लगी।

वह भी फट्टे पर लेटा-लेटा उस द्वीप में आ पहुँचा। वहाँ स्पाटिक विमान में चार प्रेतनियाँ दिखाई दीं। वह एक सप्ताह दुःख भोगती थी, एक सप्ताह सुख। उसने उनके साथ दिव्य सम्पत्ति का आनन्द लूटा। वे दुःख भोगने के लिए जाते समय बोली—

“स्वामी ! हम सातवें दिन लौटेंगी। जब तक हम आये तब तक उद्विग्न न हो यहीं रहें।” वे चली गईं। तृष्णा के वशीभूत हो वह फिर उसी फट्टे पर लेट समुद्र तल पर तैरता हुआ एक दूसरे द्वीप पहुँचा। वहाँ रजत-विमान में आठ प्रेतनियाँ देखीं। इसी तरह अगले द्वीप में मणि-विमान में सोलह, अगले स्वर्ण विमान में बत्तीस प्रेतनियों को देख उनके साथ दिव्य सम्पत्ति का आनन्द लूटा। जब वे भी दुःख भोगने चली गईं तो फिर समुद्र तल पर तैरते हुए एक चार दरवाजों वाला नगर देखा, जिसके चारों ओर चार-दीवारी थी। वह उस्सद नरक था, जहाँ बहुत से नारकीय प्राणियों को अपने-अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता था। मित्र-विन्दक को तो वह सजा-सजाया नगर दिखाई दिया। “इस नगर में दाखिल हो राजा होऊँगा” सोच वह नगर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसने खुर चक्र को ले (आग में) पकते हुए नारकीय प्राणियों को देखा। उसे वह खुर चक्र पद्म के रूप में दिखाई दिया। छाती पर का पाँच अंगों वाला बन्धन छाती के अलङ्कार के रूप में दिखाई दिया। शरीर से बहने वाला रक्त, रक्त-चन्दन के लेप सा और रोने पीटने की आवाज मधुर गीत सी लगी। उसने उसके पास जाकर कहा—

“हे पुरुष ? तुमने इस पद्म को बहुत समय तक धारण किया, अब मुझे दो।”

“मित्र ! यह पद्म नहीं है। यह खुर-चक्र है।”

“तू मुझे न देने की इच्छा से ऐसा कहता है।”

नारकीय प्राणी ने सोचा—“मेरा (पाप) कर्म-क्षीण हो गया होगा। यह भी मेरी तरह माँ को पीटकर आया होगा। उसे खुर-चक्र दूँगा।” उसने ‘भो ! आ पद्म ले’ कह उसके सिर पर खुर-चक्र फेंका। वह उसके माथे को पीसता हुआ पड़ा। तब मित्र-विन्दक ने यह जान कि यह तो खुर-चक्र है, वेदना से चिल्लाना आरम्भ किया-अपना खुर-चक्र ले, अपना खुर चक्र ले। वह अन्तर्धान हो गया।

उस समय बहुत से अनुयायियों के साथ चारिका करते हुए बोधिसत्व वहाँ पहुँचे। मित्र-विन्दक ने देखा तो पूछा—“स्वामी देवराज ! यह चक्र धानी के तिलों को पीसने की तरह मुझ पर उतर रहा है। मैंने क्या पाप कर्म किया है ?”

देवराज ने उसका कारण बताते हुए छः गाथायें कहीं—

लब्धा सतसहस्सानि अतिरेकानि वीसति,  
 अनुकम्पकानं जातीनं वचनं सम्म नाकरि ।  
 लडधी समुद्रं पक्खन्दि सागरं अण्णसिद्धकं,  
 चतूहि अट्ठ अज्झगमा अट्ठाहि पि च सोलस ॥  
 सोळसाहिच बत्तिसं, अत्रिच्छो चक्कं, आसदो,  
 इच्छाहतस्स पोसस्स चक्कं भमति मत्थके ।  
 उपरि विसालं दुप्पूरं इच्छा विसर गामिनिं,  
 ये व तं अनुगिज्झान्ति ते होन्ति चक्क धारिनो ॥  
 बहु भण्डं अण्णहाय मग्गं अण्णरिवेक्खिय,  
 येसं चेतं असड्खातं ते होन्ति चक्क धारिनो ।

कम्मं समेक्खे विपुलं च भोगं,  
 इच्छं न सेवेय्य अनत्थसंहितं ॥  
 केरय्य वाक्यं अनुकम्पकानं,  
 तं तादिसं नातिकेय्य चक्कं ॥

बीस लाख भी और पाकर हे सोम्य । तूने कृपालु रिश्तेदारों का कहना नहीं माना । समुद्र लाँघा और अल्प सिद्धि वाले सागर में कूदा । वहाँ से चार से आठ और आठ से सोलह को प्राप्त हुआ । फिर सोलह से बत्तीस । इस प्रकार उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ाने से इस चक्र को प्राप्त हुआ । इच्छा से प्रताड़ित मनुष्य के सिर में चक्र घूमता है । उतरोत्तर बढ़ने वाली पूरी न होने वाली तृष्णा के वशीभूत लोग चक्रधारी होते हैं । बहुत सामान छोड़कर बिना मार्ग का विचार किये (तूने घर छोड़ा) और जो इस प्रकार विचार नहीं करते, वे चक्रधारी होते हैं । अपने कर्म और विपुल भोग का विचार करें । अनर्थकारी इच्छा का सेवन न करें । कृपालुओं का कहना करें । ऐसे पुरुष को चक्र से त्रास नहीं होता ।

यह सुन मित्र विन्दक ने सोचा-इस देवपुत्र ने यथार्थ रूप से मेरा किया कर्म जान लिया । यह मेरे (नरक में) पकने की सीमा भी जानता होगा, पूछता हूँ । उसने नौवीं गाथा कही—

कीव धिरं नु मे यक्ख, चक्कं सिरासि उस्सति ।  
 कानि वस्स सहस्सानि, तं ये अक्खाहि पुच्छितो ।

ये यक्ष ! मेरे सिर में यह चक्र कितने दिन तक रहेगा । मैं पूछता हूँ, मुझे कहो कि

कितने सहस्र वर्ष (रहेगा) ?

बोधिसत्व ने उसे बताते हुए दसवीं गाथा कही—

अतिसरो उच्चसरो मितबिन्द, सुजोहिमे ।  
 चक्कं से सिरसिभाविद्धं न तं जीवं पमोक्खमि ।

मित्र विन्द ! तेरी यहाँ रहने की वर्ष गणना इतनी अधिक है कि वह कही नहीं जा सकती । मेरी बात सुन । तेरे सिर में जो चक्र विधा है वह तुझे जीते जी नहीं छोड़ेगा ।

यह कह देवपुत्र अपने निवास स्थान चला गया । दूसरा भी महान् दुःख को प्राप्त हुआ ।

शास्ता ने यह धर्म देसना ला जातक का मेल बैठाया । उस समय मित्र विन्दक बात न मानने वाला था । देवराज तो मैं ही था ।

(जातक IV, पृ.-202)

## 32. “आध्यात्मिक वर”

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय अस्सी करोड़ धन वाला अपुत्रक ब्राह्मण था । उसने शील ग्रहण कर पुत्र की प्रार्थना की तो बोधिसत्व उसकी ब्राह्मणी की कोख में आये । काला वर्ण होने से नामकरण के दिन इसका नाम कृष्ण कुमार रखा गया । सोलह वर्ष की आयु होने पर मणि प्रतिमा की तरह सुन्दर हुआ । पिता ने शिल्प सीखने के लिए भेजा । वह तक्षशिला से सब शिल्प सीख लौट आया । पिता ने उसके योग्य दारा से विवाह कर दिया । आगे चलकर उसे माता पिता का सारा ऐश्वर्य प्राप्त हुआ ।

एक दिन रत्न भण्डारों को देख पलङ्ग पर बैठ उसने स्वर्ण पट्टी मंगवाई । उस पर पूर्व रिश्तेदारों द्वारा लिखाये अक्षर थे-इतना धन अमुक ने पैदा किया, इतना धन अमुक ने पैदा किया । यह सोचने लगा—“जिन्होंने यह धन पैदा किया वे दिखाई नहीं देते, धन ही दिखाई देता है । एक भी इस धन को लेकर नहीं गया । धन की गठड़ी बाँधकर परलोक नहीं ले जाई जा सकती । पांच गठियों के लिए साधारण होने से असार धन का दान कर देना ही सार है । बहुत से रोगों के लिये साधारण होने से ही इस असार काया का शीलवानों के सामने अभिवादन आदि करना सार है । अनित्यताभिभूत असार जीव का अनित्यादि की विपश्यना भावना का अभ्यास करना ही सार है । इसलिए असार भोगों में से सार ग्रहण करने के लिए दान दूंगा । वह आसन से उठा

और राजा के पास उसकी आज्ञा ले महादान दिया। जब सात दिन में भी धन समाप्त नहीं हुआ तो सोचा—“मुझे धन से क्या। जब तक बुढ़ापा नहीं आता तभी तक प्रव्रजित हो अभिञ्जा और समापत्तियां प्राप्त कर ब्रह्मलोक-परायण होऊँगा।” उसने घर के सब द्वार खोल घोषणा कर दी—“दिया ही है, ले जाये। इस प्रकार सम्पत्ति से मल, मूत्र की तरह घृणा कर उसे छोड़ दिया और जनता के रोते पीटते ही नगर से निकल हिमालय में प्रवेश किया। फिर ऋषि प्रव्रज्या ले अपने रहने के लिए रमणीय भूमि की खोज करते हुए इस स्थान पर पहुंच निश्चय किया कि यही रहूँगा। एक इन्द्र वारुणी वृक्ष वाले गाँव के आश्रय रहने का संकल्प कर उसी वृक्ष के मूल में रहने लगा। ग्राम बास छोड़ आरण्यक हुआ। पर्ण शाला न बना वृक्ष के मूल में ही रहने वाला हुआ। खुले आकाश में रहने वाला, बैठा ही रहने वाला, यदि लेटने की इच्छा होती तो जमीन पर ही लेटता। दाँतों को ही मूसल मान बिना आग पर पकी चीज ही खाता। घुस वाली कोई चीज नहीं खाता। एक दिन में केवल एक बार ही खाता। आसन पर अकेला ही रहता। क्षमा में पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के समान ही उक्त सब विशेष व्रतों की रक्षा करता। इस जंगल में बोधिसत्व परम अल्पेच्छ थे। वह थोड़े ही समय में अभिञ्जा और समापत्तियां प्राप्त कर ध्यान क्रीड़ा में रत रह वहीं रहने लगा। फलाफल तक के लिये अन्यत्र न जाता। वृक्ष फलते तो फल खाता। फूलते तो फूल खाता। पत्ते रहते पत्ता खाता। पत्ते न रहने पर पपड़ी खाता। इस प्रकार परम सन्तुष्ट हो उसी स्थान पर चिरकाल तक रहा। उसने एक दिन भी पूर्वान्ह समय उस वृक्ष के फल ग्रहण करते समय लोभ वश उठ कर दूसरे प्रदेश में जा वहाँ के फल ग्रहण नहीं किये। बैठे-बैठे हाथ पैसारने पर जो फल आ जाते उन्हें ही इकट्ठे करते। उनमें भी अच्छे बुरे का विचार न कर जो जो हाथ लगते उन्हें ही ग्रहण करता। इस प्रकार उस परम संतोषी के शील-तेज से शक्र का पाण्डु-कम्बल-शिलासन गर्म हो गया। शक्र का आसन या तो उसकी आयु क्षय होने से गर्म होता है या पुण्य क्षय होने से या किसी दूसरे प्रतापी प्राणी के उस आसन की इच्छा करने से, या फिर धार्मिक महान् ऋद्धिवान् श्रमण-ब्राह्मणों के शील तेज से। उसने ध्यान लगाकर देखा-कौन है जो मुझे गिराना चाहता है? इसी प्रदेश में वन में रहने वाले कृष्ण ऋषि को वन के फल चुगते हुए सोचा-यह ऋषि घोर-तपस्वी है, परम जितेन्द्रिय है। मैं इस धर्म-कथा से सिंह नाद कर, सुख का कारण सुनाकर, वर दूँ, इस वृक्ष को मित्य फल वाला करके आऊँगा। उसने बड़े प्रताप के साथ, शीघ्रता से उतर, उसी वृक्ष की जड़ में उसकी पीठ के पीछे खड़े हो ‘अपनी निन्दा सुनकर इसे क्रोध आता है या नहीं’ परीक्षा लेने के लिए पहली गाथा कही—

कण्हो बतायं पुरिसो, कण्हं भुञ्जति भोजनं,  
कण्हे भूमि पदेसस्मि न मय्यं मनसो प्रियो ॥

यह पुरुष काला है, काला भोजन खाता है, काले प्रदेश में रहता है, यह मुझे मन से प्रिय नहीं।

कृष्ण ने उसकी बात सुन दिव्य चक्षु से देखा— कौन है जो मेरे साथ बातचीत करता है? जब मालूम हुआ कि ‘शक्र’ है तो बिना लौटे, बिना उस और देखे दूसरी गाथा कही—

न कण्हो तच्चा होति, अन्तो सारोहि ब्राह्मणो,  
भस्मि पापानि कम्मनि, सवे कण्हो सुजम्पति।

त्वचा से काला नहीं होता। जिसका अन्दर सारवान है, वह ब्राह्मण है। हे सुजम्पति! जो पाप कर्म करता है, वही काला होता है।

यह कह इन प्राणियों को ‘काला’ बनाने वाले पाप-कर्मों का एक तरह के...आदि विस्तार करके सभी पाप कर्मों की निन्दा की। फिर शीलादि की प्रशंसा कर आकाश में चाँद उगाते हुए की तरह शक्र को धर्मोपदेश दिया। शक्र ने धर्म-कथा सुनी तो प्रसन्न हो हर्ष से बोधिसत्व को वर मांगने के लिए कहते हुए तीसरी गाथा कही—

एतस्मि ते सुलपिते पतिरूपे सुभासिते,  
वरं ब्राह्मण ते दम्मि यं किञ्चि मनसा इच्छति।

यह जो सुभाषित कहा है, यह जो तुम्हारे ही अनुकूल सुन्दर कथन है, इससे प्रभावित होकर हे ब्राह्मण! मैं तुझे वर देता हूँ। जो इच्छा हो (मांग)।

यह सुन बोधिसत्व ने सोचा—इसने मेरी परीक्षा ली है कि मैं अपनी निन्दा सुनकर क्रुद्ध होता हूँ या नहीं? पहले मेरी चमड़ी, भोजन और निवास स्थान की निन्दा कर अब मुझे अक्रुद्ध देख, प्रसन्न होकर वर देता है। हो सकता है कि यह भी समझे कि मैं शक्रैश्वर्य अथवा ब्रह्मैश्वर्य के लिए तपस्या कता हूँ। इसका सन्देह मिटाने के लिए मुझे ये चार वर मांगने चाहिए। मुझे किसी के भी प्रति द्वेष या क्रोध ना हो। दूसरे की सम्पत्ति के प्रति लोभ या दूसरे के प्रति स्नेह न पैदा हो। उसने उसका सन्देह दूर करने के लिए चारो वर मांगते हुए यह गाथा कही—

वरं चे मे अदो सक्क, सब्बभूतानं इस्सर,  
सुनिक्कोधम् सुनिद्दोसं, निल्लोभं वत्तिमतनो।  
निस्नेहं अभिकङ्खामि एतेमे चतुरो वरे।

हे सब प्राणियों के ईश्वर शक्र । यदि मुझे वर देना है तो ऐसा कर कि मैं सर्वथा अक्रोधी हो जाऊँ, सर्वथा अद्वेषी हो जाऊँ, सर्वथा निर्लोभी हो जाऊँ और मेरी वृत्ति स्नेह रहित हो जाये । मैं यही चार वर चाहता हूँ ।

शक्र ने स्नेहा-कृष्ण पण्डित ने जो वर माँगे हैं वे सर्वथा निर्दोष हैं । मैं इसी से इन वरों का गुण-दोष पूछता हूँ । उसने पूछते हुए पाँचवी गाथा कही—

किं नु कोधे वा दोसे वा, लोभे स्नेहे व ब्राह्मण  
आदिनवं सम्पस्ससि, तं मे अक्खाहि पुच्छिती ।

हे ब्राह्मण ! मैं पूछता हूँ, मुझे बता कि तुझे क्रोध, द्वेष, लोभ या स्नेह में क्या दोष दिखाई देता है ।

बोधिसत्व ने “तो सुन” कह चार गाथाएं सुनायीं—

अप्पो हुत्वा बहु होती, बड्ठतेसो अखन्तिजो ।  
आसङ्गि बहु पापासो, तस्मा कोधं न रोचये ।

यह थोड़े से अधिक हो जाता है, यह अक्षमा से उत्पन्न होकर बढ़ता है, आसक्त को बहुत दुःख होता है-इसलिए मुझे क्रोध अच्छा नहीं लगता ।

दुट्ठस्स पठमा वाचा, परामासो अनन्तरा,  
ततो पाणि ततो दण्डो, सत्थस्स परमा गति ।  
दोसो कोधसमूढानो, तस्मा दोसं न रोचये ।

द्वेष होने से पहले तो (कठोर वाणी निकलती है, फिर खेंचना घसीटना आदि होता है फिर हाथ से पीटना होता है । फिर दण्ड देना होता है, फिर शस्त्र प्रहार होता है । द्वेष से ही क्रोध पैदा होता है । इसलिए द्वेष अच्छा नहीं लगता ।

आलोपसहसाकारा निकती वञ्जनानि च,  
दिस्सन्ति लोमथम्मेसु, तस्मा लोभं न रोचये ।

डाका, दुस्साहस ठगी, वञ्चना-यह सब लोभ में दिखाई देते हैं । इसलिए मुझे लोभ अच्छा नहीं लगता ।

स्नेहसंगचिता गन्था सेन्ति मनोमया पुथु,  
ते मुसं उपतापेन्ति तस्मा स्नेहं न रोचये ।

स्नेह से गुथी हुई बहुत-सी मनोमय ग्रन्थियां रहती हैं । वे सब संताप देती हैं । इसलिए मुझे स्नेह अच्छा नहीं लगता ।

शक्र ने प्रश्नोत्तर सुनकर कहा—“कृष्ण पण्डित ! तूने इन प्रश्नों का उत्तर ऐसी अच्छी तरह दिया है, जैसे बुद्ध ने ही दिया हो । मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ । और भी वर माँग । उसन दसवीं गाथा कही—

एतस्मिं ते सुलपिते पतिरूपे सुभासिते,  
वरं ब्राह्मण ते दम्मि यं किञ्चि मनसा इच्छति ।

(अर्थ ऊपर आ गया है)

तब बोधिसत्व ने इसके बाद ही गाथा कही—

वरं चे मे अदो सक्क सब्भूतानं इस्सर,  
अरञ्जे में विहरतो निच्चं एकविहारिनो ।  
आत्ताधा न उप्पेज्जेथ्यु अन्तरायकरा भुसा ।

हे सब प्राणियों के ईश्वर शक्र । यदि मुझे वर देना चाहता है तो यह वर दे कि जंगल में नित्य अकेले विहार करते हुए (तपस्या में) बहुत बाधक होने वाले रोग न उत्पन्न हो ।

यह सुन शक्र ने ‘कृष्ण पण्डित व माँगते हुए सांसारिक वस्तु नहीं माँगता, तपस्या सम्बन्धी ही माँगता है’ सोच और भी अधिक प्रसन्न हो एक और वर देने के लिए यह गाथा कही—

एतस्मिं ते सुलपिते पतिरूपे सुभाषिते,  
वरं ब्राह्मण ते दम्मि यं किञ्चि मनसा इच्छति ।

बोधिसत्व ने वर ग्रहण करने के बहाने से धर्मोपदेश देते हुए अन्तिम गाथा कही—

वरं चे में अदो सक्क, सब्भूतानं इस्सर,  
न मनो वा शरीरं वा, मड्ढते सक्क कस्सचि ।  
कदाचि उपहज्जेथ, एतं सक्क वरं वरे ।

हे सब प्राणियों के ईश्वर शक्र ! यदि वह देता है तो यह वर दे कि मेरे कारण किसी के भी मन या शरीर को कभी भी कपट न हो । हे शक्र ! मैं यही वर माँगता हूँ ।

बोधिसत्व ने छः बार वर माँगते हुए भी त्याग सम्बन्धी वर ही माँगा । वह यह जानता था कि रोग शरीर का स्वभाव है और शक्र शरीर को रोग से मुक्त नहीं कर सकता, प्राणियों के शरीर, वाणी और मन की शुद्धि भी शक्र के अधीन नहीं है । ऐसा

होने पर भी उसे धर्मोपदेश देने के लिए ये वर ग्रहण किए ।

शक्र ने भी उस वृक्ष को नित्य फल वाला कर दिया और बोधिसत्व को प्रणाम कर, सिर पर हाथ जोड़े 'यही आरोग्य रह' कहें अपने स्थान को गया । बोधिसत्व भी ध्यानावस्थित रह ब्रह्मलोकगामी हुए ।

(जातक IV, पृ.—207)

### 33. "राज्य के लिए पितृघात"

शास्ता ने जीवक के आभ्रवन में विहार करते समय अजातशत्रु के पितृघात कर्म के बारे में कही ।

उसने देवदत्त के लिए, उसके कहने में आकर, पिता को मरवा दिया था । फिर उसने सुना कि देवदत्त का संघ बिखर गया और रोग उत्पन्न हो गया । तब वह तथागत से क्षमा मांगने के लिए डोली में बैठकर श्रावस्ती गया । जाते समय जेत-वन द्वार पर उसका पृथ्वी-प्रवेश हुआ । यह सुना तो उसके मन में भी भय उत्पन्न हुआ—“देवदत्त सम्यक्-सम्बुद्ध का प्रतिपक्षी हो गया । परिणामस्वरूप उसका पृथ्वी-प्रवेश हुआ और वह अवीची नरक में पहुँचा । मैंने भी उसकी प्रेरणा से अपने धार्मिक धर्मराज पिता की हत्या की । मेरा भी पृथ्वी-प्रवेश होगा ।” इस प्रकार सोचने से उसे राज्य-श्री में कुछ आनन्द न अनुभव हुआ । 'थोड़ा सोऊँगा' सोच यह-लेटा तो निद्रा आते ही उसे ऐसा लगा मानो नौ योजन मोटे लोहे की पृथ्वी पर गिराकर उसे लोहे की शलाखाओं से ही कूटा जा रहा है । उसे लगा जैसे उसे कुत्ते नोच-नोच कर खा रहे हों । वह डर के मारे चिल्ला कर उठा । फिर एक दिन कार्तिक मास की चन्द्रिका में अमात्यों के बीच बैठे-बैठे उसने अपने वैभव की ओर देख सोचा “मेरे पिता का वैभव इससे अधिक था । मैंने वैसे धर्म-राज को देवदत्त की प्रेरणा से मार डाला ।” उसके इस प्रकार सोचते समय ही उसके शरीर में जलन होने लगी । सारा शरीर पसीना-पसीना हो गया । तब उसने विचार किया कि कौन है जो मुझे इस भय से मुक्त कर सके ? उसकी समझ में आया कि दसबल के अतिरिक्त और कोई उसे इस भय से मुक्त नहीं कर सकता । फिर प्रश्न हुआ—“मैंने उनका बड़ा अपराध किया है । मुझे कौन उनके पास ले जायेगा ?” उसे सूझा—“जीवक के अतिरिक्त और कोई नहीं ।” उसे लेकर चलने की तैयारी करते हुए उसने उल्लास-वाक्य कहा—“आज की रात्रि बड़ी रमणीय है ? आज किस श्रमण अथवा ब्राह्मण की सेवा में चलें ?” जब पुराण-शिष्यों ने पुराणकस्सप आदि का गुण वर्णन किया, तो उसने उनकी उपेक्षा की । किन्तु जब जीवक से पूछा और उसने

तथागत का गुणानुवाद कर कहा कि देव उन भगवान् की सेवा में चले, तो उसने हाथी-वाहन आदि तैयार करा, जीवकम्बवन में पहुँच, तथागत के समीप जा, प्रणाम किया । तथागत के कुशल-क्षेम पूछने पर उसने श्रामण्य के इह-लौकिक फल के बारे में जिज्ञासा की । फिर तथागत से श्रामण्य-फल के बारे में मधुर धर्मोपदेश सुन, सूक्त के अन्त में उपासक रूप से ग्रहण किए जाने की प्रार्थना की और तथागत से क्षमा मांग चल दिया । इसके बाद से वह दान देता हुआ, शील के नियमों का पालन करता हुआ, तथागत के साथ सत्संग करता हुआ, मधुर धर्मोपदेश सुनता हुआ रहने लगा । सत्संगति के फलस्वरूप उसके चित्त का भय, लोमहर्षण जाता रहा और उसने पुनः चित्त प्रसाद प्राप्त किया । वह सुख से उठता-बैठता आदि करने लगा ।

एक दिन धर्मसभा में भिक्षुओं ने बातचीत चलायी । “आयुष्मानो ! अजातशत्रु पितृघात कर्म कर भयाकुल हुआ । राज्यश्री का सुख न भोगते हुए वह उठते-बैठते हर् अवस्था में दुःखी रहने लगा । अब वह तथागत के पास पहुँच सत्संगति के प्रभाव से भय-मुक्त हो गया और ऐश्वर्य-सुख अनुभव करने लगा ।” तथागत ने आकर पूछा—“भिक्षुओं, बैठे क्या बातचीत कर रहे हो ?” “अमुक बातचीत” कहने पर “भिक्षुओं, न केवल अभी, इसने पहले भी पितृ-घात कर्म किया, किन्तु बाद में मेरे कारण सुखपूर्वक सोया ।” कह पूर्व-जन्म की कथा कही ।

पूर्व समय में ब्रह्मदत्त को वाराणसी में ब्रह्मदत्त कुमार नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । उस समय बोधिसत्व ने पुरोहित के घर में जन्म ग्रहण किया । पैदा होने पर उसका नाम संकिच्च कुमार रखा गया । वे दोनों राज-भवन में साथ ही बढ़ने लगे । परस्पर मित्र होते हुए बड़े होने पर तक्षशिला गये और सभी शिल्प सीख कर आये ।

राजा ने पुत्र को उप-राज बनाया । बोधिसत्व भी उपराज के ही पास रहे । एक दिन उपराज ने उद्यान-क्रीड़ा के लिए जाते समय पिता का महान् ऐश्वर्य देख, उसमें लोभ उत्पन्न कर सोच—“मेरा पिता, मेरे भाई के समान है । यदि इसके मरण की प्रतीक्षा करूँगा, तो मुझे बूढ़े होने पर राज्य मिलेगा । उस समय राज्य मिलने से क्या लाभ ? पिता को मारकर राज्य करूँगा ।” उसने अपना यह विचार बोधिसत्व पर भी प्रकट किया । बोधिसत्व ने मना किया—“मित्र ! पितृघात कर्म महान् पातक है, नरक का रास्ता है । यह नहीं किया जा सकता । ऐसा मत करे ।” उसने बार-बार कहा । जब तीसरी बार भी मना किया तो उसने पैरों में बैठने वाले नौकरों से मन्त्रणा की । उन्होंने स्वीकार कर, राजा के मारने के उपाय पर विचार किया । बोधिसत्व को जब यह पता लगा तो उसने सोचा—“मैं इनके साथ शामिल नहीं होऊँगा ।” उसने माता-पिता की आज्ञा भी नहीं ली और मुख्य द्वार से निकल, हिमालय में जा, ऋषि-प्रव्रज्या ले, ध्यान

अभिज्ञा प्राप्त कर, जंगल के फल-मूल खाता हुआ रहने लगा। राजकुमार ने भी उसके चले जाने पर पिता को मार बहुत ऐश्वर्य का अनुभव किया। यह सुन कि संकिच्च कुमार ने ऋषि-प्रव्रज्या ली है, बहुत से कुल-पुत्रों ने उसके पास जा प्रव्रज्या ली। वह अनेक ऋषि-गणों के साथ वहां रहने लग गया। सभी समापत्ति-लाभी ही थे।

पिता को मारने के बाद राजा ने थोड़े ही समय तक राज-सुख का अनुभव किया। उसके बाद भयाकुल हो, चित्त की शान्ति न पा, वह ऐसा हो गया जैसे नरकगामी कर्म किया हो। वह बोधिसत्व को याद कर सोचने लगा—“मेरे मित्र ने मुझे मना किया कि पितृघात कर्म महान् पातक है। जब उसने देखा कि मैं उसकी बात नहीं सुनता, तो अपने आप को निर्दोष रख वह कहीं चला गया। यदि वह यहाँ रहता तो मुझे पितृघात कर्म न करने देता। वह ही मेरे भय को दूर कर सकता है। किन्तु वह इस समय कहाँ विचरता है? यदि उस के निवास-स्थान का पता लगे तो उसे बुलवा लें। कौन है जो मुझे उसके निवास-स्थान का पता बता दे?” उसके बाद से वह अन्तःपुर में तथा राजसभा में बोधिसत्व के ही गुण गाता। इस प्रकार समय बीतने पर बोधिसत्व ने जब यह देखा कि राजा मुझे याद करता है, तो उसने सोचा कि मुझे वहाँ जाकर धर्मोपदेश दे, उसे निर्भय करके आना चाहिए। पचास वर्ष पर्यन्त हिमालय में रहने के बाद, पाँच सौ तपस्वियों को साथ ले, ढाय-पार्श्व नाम के उद्यान में उतर, ऋषि-गणों के बीच शिला पर बैठा। उद्यान-पाल ने उसे देख पूछा—“भन्ते !गणशास्ता का क्या नाम है?” जब उसने सुना कि “संकिच्च—पण्डित” हैं, तो स्वयं भी पहचानकर निवेदन किया, “भन्ते ! जब तक मैं राजा को लेकर आऊँ, तब तक यहीं रहें। हमारा राजा तुम्हें देखने ही इच्छा करता है।” यह कहकर शीघ्रतापूर्वक राज-कुल पहुँच, राजा को उसके आगमन की सूचना दी। राजा ने उसके पास पहुँच, करने योग्य सेवा कर, प्रश्न पूछा।

वह बोला—“ऋषियों द्वारा प्रशंसित, ऋषिगणों में प्रमुख, ढायपार्श्व (उद्यान) में बैठे संकिच्च ऋषि से मैं पूछता हूँ। धर्मविरोधी कार्य करने वाले आदमियों की क्या गति होती है? मैंने धर्म का अतिचार किया है, इसलिए मैं पूछता हूँ मुझे बताओ।”

शास्ता ने इस अर्थ को प्रकट करते हुए कहा—

“इसि अवच संकिच्चो, कासीनं रट्ठवढ्ढं

आसीनं ढायपस्सस्मि, महाराज सुणोहि मे ॥ 10 ॥”

“उप्यथेन वजन्तस्स, यो मग्गं अनुसासति

तस्स वे वचनं कथिरा, नास्स मग्गेय्य कष्टको ॥ 11 ॥”

“अधम्मं परिपंत्रस्स, यो धम्मं अनुसासति

तस्स वे वचनं कथिरा, न सो गच्छेय्य दुग्गतिं ॥ 12 ॥”

संकिच्च ऋषि ने ढायपार्श्व में बैठे काशी-नरेश से कहा—“महाराज ! मेरी बात सुनें। जो आदमी कुमार्ग से जाने वाले को मार्ग बताये, उस मार्ग बताने वाले की बात माननी चाहिए। बात मानने वाले को कांटे नहीं लगते। उसी प्रकार अधर्म के रास्ते चलने वाले को जो धर्म की बात बताये, उस धर्म की बात बताने वाले का कहना करना चाहिए। वैसा करने वाला दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।”

महाराज ! धर्म तो पथ है, अधर्म कुपथ है। अधर्म नरक में ले जाता है। धर्म सुगति लाभ कराता है। हे राजन् ! जिस गति को अधार्मिक जीविका चलाने वाले नर मरकर प्राप्त होते हैं, वह मुझसे सुन। सञ्जीव, कालसुत सघांत, ज्वाल-रोरुव तथा धूम्र-रोरुव, महावीची, तपन और पतपन-ये आठ अतिक्रमण करने में अति दुष्कर नरक कहे गये हैं। ये रौद्रकर्मियों द्वारा भरे हैं। प्रत्येक नरक के साथ सोलह-सोलह उस्सदनरक हैं (8 + 128 = 136) ये सब पापियों को तपाने वाले हैं। घोर हैं। अर्चिमान हैं। महाभयानक हैं। रोगटे खड़े कर देने वाले हैं। भयानक हैं। त्रास पैदा करने वाले हैं। दुःखदायी हैं। चतुष्कोण हैं। चारद्वारों वाले हैं। विभक्त हैं। हिस्से हैं। नये हैं। लोहे की दीवार से घिरे हैं। लोहे से ढके हैं। उनकी लोहे की भूमि ज्वालाओं से चारों ओर सौ-सौ योजन तक सर्वदा स्पर्शित होकर जलती रहती है। संयत, तपस्वी, ऋषियों को कठोर वचन बोलने वाले सिर नीचे और पैर ऊपर करके नरक में गिरते हैं। वे पापी भूण-हत्यारे असंख्य वर्षों तक मछलियों की तरह नरक में पकते हैं। जलता हुआ शरीर लेकर वे नरक से बाहर जाना चाहते हैं, किन्तु उन्हें द्वार ही नहीं मिलता। वे पूर्व द्वार की ओर दौड़ते हैं, पश्चिम द्वार की ओर दौड़ते हैं, उत्तर द्वार की ओर दौड़ते हैं और दक्षिण द्वार की ओर दौड़ते हैं—वे जिस-जिस द्वार की ओर दौड़ते हैं, देवता उसी को बन्द कर देते हैं। नरक में रहने वाले लोग महान् दुःख प्राप्त कर बहुत-हजार वर्ष तक बाहों में सिर देकर रोते हैं। अतिक्रमण करने में दुष्कर, तेजस्वी, कुपित, विषैले सर्प के समान, जो संयत तपस्वी हैं, वैसे साधुरूपों को कठोर-वचनों से कष्ट न दें। विशालकाय, धनुषधारी सहस्रबाहु, केकक-नरेश अर्जुन ऋषि गौतम को प्राप्त हो नष्ट हुआ। रज-विरहित, कृष, वत्स-गोत्रीय (?) की अवमानना करने से राजा दण्डकी ताड़ वृक्ष के समूल नष्ट हो जाने की तरह नाश को प्राप्त हुआ। मेज्ज ने यशस्वी मातङ्ग के प्रति मन मैला किया। वह परिषद् सहित नष्ट हो गया। वहां मेज्जारण्य हो गया। अन्धक वेणु कृष्ण द्वीपायन ऋषि को प्राप्त हुए तो परस्पर एक दूसरे की मूसलों से हत्या कर यम लोक सिधारे। आकाशगामी चेतिय राजा ऋषि द्वारा अभिशप्त होने के

कारण मरकर पृथ्वी में प्रविष्ट हुआ। इसीलिए पण्डित लोग पक्षपात की प्रशंसा नहीं करते। आदमी को चाहिए कि वह द्वेष रहित हो सच्ची बात कहे। जो आदमी विद्याचरण मुनि को दुष्ट मन से देखता है, वह नीचे नरक लोक में जाता है। जो आदमी कठोर वचनों से वृद्धों का मजाक उड़ाते हैं, वे सन्तान-रहित हो जाते हैं, वे दश्याद-रहित हो जाते हैं और वे ताड़-वृक्ष की तरह समूल नष्ट हो जाते हैं। जो कृतकृत्य, महर्षि, प्रव्रजित की हिंसा करते हैं, वह दीर्घकाल तक काल-सुत्त नरक में पकते हैं। जो मूर्ख अधार्मिक राजा, राष्ट्र का विनाश करता हुआ, जनपद को त्रास देता है, वह मरने पर तपन नामक नरक में पकता है। वह सौ हजार दिव्य वर्षों तक नरक में पकता है। वह ज्वालाओं से घिरा हुआ महान् दुःख अनुभव करता है। उसकी अग्निमय काया से ज्वालायें निकलती हैं। उसका शरीर अग्निभक्ष-सा होता है। उसके रोम-रोम से तथा नखों से ज्वाला निकलती है। भीतर बाहर से शरीर जलता हुआ दुःखाभिभूत होकर वैसे ही चिल्लाता है जैसे अंकुश से मारा जाता हुआ हाथी। जो नीचे आदमी लोभ अथवा द्वेष से वशीभूत हो पिता की हत्या करता है, वह दीर्घकाल तक कालसुत्त नरक में पकता है। ऐसा पुरुष लोह-कुम्भी पाक नरक में पकता है। फिर उसकी चमड़ी उधेड़ कर उसे शक्ति आयुध से चूर्ण-विचूर्ण किया जाता है। फिर उसे अन्धा करके और उसके मुँह में मल-मूत्र भरकर उसे क्षार में डुबा दिया जाता है। तप्त-मल-मूत्र तथा लोहे का गोला लेकर उसके मुँह में डालते हैं। जब वह मुँह बन्द करता है तो चिरकाल तक तप्त किए गए फालों से मुँह खोलकर और उसे रस्सियों से कसकर, नरक-पाल, लोग उसे खुले मुँह में तप्त मल-मूत्र तथा लोहे के गोले डालते हैं। श्याम-वर्ण-कुत्ते, चितकबरे गिध, कौवे, लोहमुखी पक्षी इकट्ठे होकर उस तड़पते हुए सारक्त मनुष्य को जीभ से बखेर-बखेर कर, भुक्खड़ों की तरह खाते हैं। उस जलकर कोयला हुए मनुष्य का, उस टुकड़े-टुकड़े शरीर वाले का, नरक-पाल लोग कचूमर निकालते घूमते हैं। यह उनकी क्रीड़ा मात्र है। दूसरे नरक-गामियों को दुःख होता है। पितृघात करने वाले लोग इस प्रकार के नरक में रहते हैं। मातृ-हत्या करने वाला मनुष्य यहां से यमलोक जाकर, अपने कर्म के फलस्वरूप बहुत दुःख भोगता है। अति बलवान नरक-पाल मातृ हत्या करने वाले को लोहे की फलों से बार-बार पीटते हैं। उसके अपने शरीर से निकले हुए गर्म रक्त को उसी मातृ-हत्यारे को पिलाते हैं। वह घृणित, सड़े हुए, बदबूदार, गूट के कीचड़ वाले, रक्त मिश्रित तालाब में ठहरता है। यहां बड़ी-बड़ी अयो-मुख चीटियां उसकी चमड़ी छेदकर खाती हैं, जो मांस तथा रक्त के अत्यन्त लोभी हैं। वह उस सौ पुरूसा भर गहरे नरक में डूबता है। उसके चारों ओर सौ योजन तक दुर्गन्ध फैलती है। उस दुर्गन्ध से आँख वाले की आँखें भी जाती

रहती हैं? हे ब्रह्मदत्त ! मातृ हत्यारे को इस प्रकार का दुःख मिलता है। गर्भपात करने वाली स्त्रियां खुर-धार नरक को पार कर तेज, दुस्तर वेतरणी नदी में गिरती हैं। वहां वेतरणी के तट पर सोलह अगुल लम्बे काँटों वाली शाखाओं वाले पेड़ हैं। वे उन शाखाओं को पकड़ती हैं। वे दूर से ही अग्नि-स्कन्ध के समान अर्चिमान होती हैं। वे ऊपर योजन तक अग्नि से प्रज्वलित हैं। अतिचार करने वाली स्त्रियां तथा पर-नारी गमन करने वाले पुरुष तीखे काँटों वाले नरक में गिरते हैं। वे नीचे मुँह होकर गिरते हैं। और अंग-प्रत्यंग बिधे होकर रहते हैं। उन्हें रात को नींद नहीं आती। तब रात के बीतने पर महान् पर्वत समान, अग्नि-मुख लोह-कुम्भी-पाक नरक में जाते हैं। इस प्रकार मोह-ग्रस्त दुष्शील प्राणी अपने पूर्वकृत दुष्कर्म को भोगते हुए रात-दिन दुःख का अनुभव करते हैं। जो धन-क्रीत पत्नियां, स्वामी, ससुर, जेठ अथवा अपनी ननद के प्रति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करतीं, उनकी जिह्वा टेढ़ी-सण्डासी से खींच ली जाती है। वे अपने मुँह को कृमियों से भरा देखती हैं। बोलने की इच्छा रखने पर भी बोल नहीं सकती हैं। वे तपन नरक में पकती हैं। भेड़ों को मारने वाले, सूअरों को मारने वाले, मछलियों को मारने वाले, हिरनों को मारने वाले, चोर, गौओं के हत्यारे, रौद्र, निन्दनीय की प्रशंसा करने वाले, शक्तियों से, लोहे के हथौड़ों से, तलवारों से तथा बाणों से मारे जाकर सिर नीचे पैर ऊपर क्षार नदी में गिरते हैं। ठगी करने वाले सांझ-सवेरे लोहे के हथौड़े से पीटे जाते हैं और फिर दूसरे दुर्गति प्राप्त हुआ का वमन किया हुआ खाना होता है। कौवे, श्रृगाल, गीद्ध तथा लोह-मुख चीलें तड़पते हुए पापी आदमी को खाती हैं। जो पशुओं की सहायता से पशुओं का तथा पक्षियों की सहायता से पक्षियों का शिकार खेलते हैं, वे धूल से ढके हुए असत्पुरुष नीचे नरक में जाने वाले होते हैं।

बौधिसत्व ने इतने नरक दिखा, अब लोक को प्रकट कर राजा को देव-लोक दिखाते हुए कहा—

“सन्तो च उद्धं गच्छन्ति सुचिण्णेन दूध कम्मना  
सुचिण्णास्स फलं पस्स, सेन्देवा सबहका ॥ 65 ॥”

“तं नं ब्रुगि महाराज धम्मं रट्ठपती चर  
तथा तथा राज चरादि धम्मं  
यथा वं सुचिण्णं नानुतप्येय्य पेच्च ॥ 66 ॥”

सुकर्म करने से यहां सत्पुरुष लोग ऊपर जाते हैं। सुकर्म का फल देखो इन्द्र तथा ब्रह्मा सहित देव लोक। महाराज ! यह कहता हूँ। हे राष्ट्रपति धर्मानुसार चल। हे राजन् ! वैसे धर्माचरण कर जैसे मरने पर पीछे अनुताप न दे।

उसने बोधिसत्व का धर्मोपदेश सुनकर आश्वासन लाभ किया। बोधिसत्व भी कुछ समय वहाँ रह स्वकीय निवास-स्थान को ही गये।

शास्ता ने यह धर्म-देशना ला भिक्षुओं ! ने केवल अभी, मेरे द्वारा यह पहले भी आश्रित हुआ ही है, कह जातक का मेल बैठाया। तब राजा अजातशत्रु था। ऋषिगण बुद्ध-परिषद्। संकिच्च- पण्डित तो मैं ही था।

( 'जातक' V, पृ० नं. 348)

### 34. 'परनारी रत नर-उभयत्र नारकी'

कापिल्य नाम का एक प्रसिद्ध शहर था। उसके राजा का नाम नरसिंह था। नरसिंह बुद्धिमान और धर्मात्मा था। अपने राज्य का पालन वे नीति के साथ करते थे इसलिए प्रजा उन्हें बहुत चाहती थी।

राजमंत्री का नाम सुमति था। इनके धनश्री स्त्री और कडारपिंग नाम का एक पुत्र था। कडारपिंग का चाल-चलन अच्छा नहीं था। वह बड़ा कामी था। इसी नगर में एक कुबेरदत्त सेठ रहता था। वह धर्मात्मा और पूजा, प्रभावना का करने वाला था। इसकी स्त्री प्रियंगुसुन्दरी सरल स्वभाव की थी, पुण्यवती और बहुत सुन्दर थी।

एक दिन कडारपिंग ने प्रियंगुसुन्दरी को कहीं जाते देख-लिया। उसकी रूप-मधुरिमा को देखकर उसका मन बेचैन हो उठा। वह जिधर देखता उधर ही उसे प्रियंगुसुन्दरी दिखने लगी। प्रियंगुसुन्दरी के सिवा उसे और कोई वस्तु अच्छी न लगने लगी। काम ने इसे आपे से भुला दिया। बड़ी कठिनता से उस दिन वह घर पर पहुँच पाया। उसे इस तरह बेचैन और भ्रम-बुद्धि देखकर उसकी माँ को बड़ी चिन्ता हुई। उसने उससे पूछा। — 'कडार ! क्यों आज एकाएक तेरी दशा यह हो गई ? अभी तो तू घर से अच्छी तरह गया था और थोड़ी ही देर में तेरी यह हालत कैसे हुई ? बतला तो, क्या हुआ ? क्यों तेरा मन आज इतना खेदित हो रहा है ?' कडारपिंग ने कुछ न सोचा-विचारा, अथवा यों कह लीजिए कि सोच-विचार करने की बुद्धि ही उसमें न थी। यही कारण था कि उससे कौन पूछने वाली है, इसका भी कुछ ख्याल न कर कह दिया कि, कुबेरदत्त सेठ की स्त्री को मैं यदि किसी तरह प्राप्त कर सकूँ, तो मेरा जीना हो सकता है सिवा इसके मेरी मृत्यु अवश्यभावी है। नीतिकार कहते हैं — कि काम से अन्धे हुए लोगों को धिक्कार है जो लज्जा और भय रहित होकर फिर अच्छे और बुरे कार्य को भी नहीं सोचते। बेचारी धनश्री पुत्र की यह निर्लज्जता देखकर दंग रह गई। वह इसका कुछ उत्तर न देकर सीधी अपने स्वामी के पास गई

और पुत्र की सब हालत उसने उनसे कह सुनाई। सुमति एक राजमंत्री था और विद्वान था। उसे उचित था कि वह अपने पुत्र को पाप की ओर से हटाने का यत्न करता, पर उसने इस डर से कि कहीं पुत्र मर न जाये, उल्टा पाप कार्य का सहायक बनने में अपना हाथ बटाया। सच है, विनाशकाल जब आता है तब बुद्धि भी विपरीत हो जाती है। ठीक यही हाल सुमति का हुआ। वह पुत्र की आशा पूरी करने के लिए एक कपट-जाल रचकर राजा के पास गया और बोला-महाराज, रत्नद्वीप में एक किजल्प जाति के पक्षी होते हैं, वह जिस शहर में रहते हैं वहाँ महामारी, दुर्भिक्ष, रोग, अपमृत्यु आदि नहीं होते तथा उस शहर पर शत्रुओं का चक्र नहीं चल पाता और न चोर वगैरह उसे किसी प्रकार की हानि पहुँचा सकता है और महाराज, उनकी प्राप्ति का मार्ग भी सहज है। अपने शहर में जो कुबेरदत्त सेठ हैं, उनका आना जाना वहाँ हुआ करता है और वे हैं भी कार्य चतुर इसलिए उन पक्षियों के लाने को आप उन्हें आज्ञा कीजिए। अपने राजमंत्री की एक अभूतपूर्व बात सुनकर राजा पक्षियों को मँगाने को आकुला उठे। भला, ऐसी आश्चर्य उपजाने वाली बात सुनकर किसे ऐसी अपूर्व वस्तु की चाह न होगी ? और इसीलिए महाराज ने मंत्री की बातों पर कुछ विचार न किया। उन्होंने उसी समय कुबेरदत्त को बुलवाया और सब बात समझाकर उसे रत्नद्वीप जाने को कहा। बेचारा कुबेरदत्त इस कपटजाल को कुछ न समझ सका। वह राजाज्ञा पाकर घर पर आया और रत्नद्वीप जाने का हाल उसने अपनी विदुषी प्रिया से कहा। सुनते ही प्रियंगुसुन्दरी के मन में कुछ खटका पैदा हुआ। उसने कहा नाथ-नाथ, जरूर कुछ दाल में काला है। आप ठगे गये हो। किजल्प पक्षी की बात बिल्कुल असम्भव है। भला, कहीं पक्षियों का भी ऐसा प्रभाव हुआ है ? तब क्या रत्नद्वीप में कोई मरता ही न होगा ? बिल्कुल झूठ ! अपने राजा सरल-स्वभाव के हैं सो जान पड़ता है कि वे किसी के चक्र में आ गये हैं। मुझे जान पड़ता है, यह कारस्तानी राजमंत्री की हुई है। उसका पुत्र कडारपिंग महाव्यभिचारी है। उसने मुझे एक दिन मंदिर जाते हुए देख लिया था। मैं उसकी पाप भरी दृष्टि को उसी समय पहचान गई थी। मैं जितना ही ध्यान से इस बात पर विचार करती हूँ तो अधिक-अधिक विश्वास होता जाता है कि इस षड्यन्त्र के रचने में मंत्री महाशय की मंशा बुरी है। उन्होंने अपने पुत्र की आशा पूरी करने का और कोई उपाय न खोज पाकर आपको विदेश भेजना चाहा है। इसलिए अब आप सह करें कि यहाँ से आप रवाना हो जायें जिससे कि किसी को सन्देह न हो, और रात होते ही जहाज को आगे जाने देकर आप वापिस लोट आइये। फिर देखिये कि क्या गुल खिलता है। यदि मेरा अनुमान ठीक निकले तब तो फिर आपके जाने की कोई आवश्यकता नहीं और नहीं तो दस पन्द्रह दिन बाद चले जाइयेगा।

प्रियंगुसुन्दरी की बुद्धिमानी देखकर कुबेरदत्त बहुत खुश हुआ। उसने उसके कहे अनुसार ही किया। जहाज रवाना हो गया। जब रात हुई तब कुबेरदत्त चुपचाप घर पर आकर छुप गया। सच है, कभी-कभी दुर्जनों की संगति से सत्पुरुषों को भी वैसा ही हो जाना पड़ता है।

जब यह खबर कडारपिंग के कानों में पहुँची कि, कुबेरदत्त रत्नद्वीप के लिए रवाना हो गया तो उसकी प्रसन्नता का कुछ ठिकाना न रहा। जिस दिन के लिए तरस रहा था, बेचैन हो रहा था, वहीं दिन उसके लिए जब उपस्थित हो गया तब क्यों न प्रसन्न होगा ? प्रियंगुसुन्दरी के रूप का भूखा और काम से उन्मत्त वह पापी कडारपिंग बड़ी आशा और उत्सुकता से कुबेरदत्त के घर पर आया। प्रियंगुसुन्दरी ने इसके पहले ही उसके स्वागत की तैयारी के लिए पाखाना जाने के कमरे को साफ-सुथरा कराकर और उसमें बिना निवार का एक पलंग बिछवा कर उस पर एक चदर बिछवा दी थी। जैसे ही मन्द-मन्द मुस्काते हुए कडारपिंग आये, उन्हें प्रियंगुसुन्दरी उस कमरे में लिवा ले गयी और पलंग पर बैठने का उनसे उसने इशारा किया। कडारपिंग प्रियंगुसुन्दरी को अपना इस प्रकार स्वागत करते देखकर जिसका कि उसे स्वप्न में भी ख्याल नहीं था, फूलकर कुप्पा हो गया। वह समझने लगा स्वर्ग अब थोड़ा ही ऊँचा रह गया है; पर उसे यह भी विचार न आया कि पाप का फल बहुत बुरा होता है। खुशी में आकर प्रियंगुसुन्दरी के इशारे के साथ ही जैसे ही वह पलंग पर बैठा कि धड़ाम से नीचे जा गिरा। जब वहाँ की भीषण दुर्गन्ध ने उसकी नाक में प्रवेश किया, तब उसे भान हुआ कि मैं कैसे अच्छे स्थान पर आया हूँ। तब अपनी करनी पर बहुत पछताया, उसने बहुत आरजू मित्रत अपने छुटकारा पाने के लिए की, पर उसकी इस अर्जी पर ध्यान देना प्रियंगुसुन्दरी को नहीं भाया। उसने उसे पापकर्म का उपयुक्त प्रायश्चित्त दिए बिना छोड़ना उचित नहीं समझा। नारकी जैसे नरक में पड़कर दुःख उठाते हैं, ठीक वैसे ही एक राजमंत्री का पुत्र अपनी सब मान मर्यादा पर पानी फेरकर अपने किये कर्मों का फल आज पाखाने में पड़ा-पड़ा भोग रहा है। इस तरह कष्ट उठाते-उठाते पूरे छह महीने बीत गये। इतने में कुबेरदत्त का जहाज भी रत्नद्वीप से लौट आया। जहाज का आना सुनकर सारे शहर में इस बात का शोर मच गया कि सेठ कुबेरदत्त किंजल्क पक्षी ले आये। इधर कुबेरदत्त ने कडारपिंग को बाहर निकालकर उसे अनेक प्रकार के पक्षियों के पंखों से खूब सजाया और काला मुँह करके उसे एक विचित्र ही जीव बना दिया। इसके बाद उसने कडारपिंग के हाथ-पाँव बाँधकर और उसे एक लोहे के पिजरे में बन्द कर राजा के समाने ला उपस्थित किया। इसके पश्चात् कुबेरदत्त ने मुस्कराते हुए यह कहकर, 'कि हे ! देव, यह आपका मंगाया किंजल्क पक्षी उपस्थित

है।' यथार्थ हाल राजा से कह दिया। सच्चा हाल जानकर राजा को मंत्री पुत्र पर बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने उसी समय उसे गधे पर बैठाकर, सारे नगर में घुमा फिराकर उसके मार डालने की आज्ञा दे दी। वही क्रिया भी गया। कडारपिंग को अपनी करनी का फल मिल गया। वह बड़े खोटे परिणामों से मरकर नरक पहुँचा।

(अराधना कथा कोश - पृ०, 243-248)

### 35. ब्रह्महत्या का भागी कौन ?

भूख से, प्यास से और मार्ग के परिश्रम से अत्यन्त थका हुआ हरिस्वामी भोजन के लिए घूमता हुआ किसी गाँव में पहुँचा। वहाँ पद्मनाभ नामक ब्राह्मण के घर में बहुत ब्राह्मणों को भोजन करते हुए देखकर निःशब्द तथा निश्चल होकर दरवाजे का चौखट पकड़ कर खड़ा हो गया। उस प्रकार खड़े हुए उसको देखकर उस याज्ञिक ब्राह्मण की पतिव्रता पत्नी ने दयालु होकर सोचा—“अरे ! भूख बहुत बड़ी वस्तु है, यह किसकी लघुता नहीं पैदा कर देती है ? जिससे यह कोई अन्न चाहने वाला द्वार पर अधोमुख होकर खड़ा है। मालूम होता है कि यह दूर से आया हुआ है, स्नान किया है, दुर्बल है, तो यह अन्नदान का पात्र है।” यह निश्चय करके उसे पतिव्रता ने घी और चीनी से युक्त पायस से भरा हुआ पात्र उठाकर दोनों हाथों से लाकर आदर के साथ उसको दे दिया, और इसको कहा—“यहीं कहीं तालाब के किनारे जाकर खाओ।” उसने भी “वैसा ही” यह स्वीकार करके उस अन्नपात्र को लेकर थोड़ी ही दूर जाकर कहीं सरोवर के किनारे बरगद के पेड़ के नीचे उसे रख दिया।

तब वह उस तालाब में हाथ-पैर धोकर कुल्ला करके जब तक भोजन करने के लिए प्रसन्न होकर पायस के पास आता है तब तक कोई बाज कहीं से चोंच और दोनों पैरों से एक काले सांप को पकड़ कर उसी पेड़ पर बैठ गया। उस पक्षी के द्वारा दबाकर उठाये हुए अतएव मरे हुए उस साँप के मुख से विष की लार निकली और वह उस समय नीचे स्थित उस अन्नपात्र में गिर गयी। हरिस्वामी तो उसको बिना देखे ही भूखपीड़ित होकर आते ही वह सम्पूर्ण अन्न खा गया। उसके बाद उसके खाते ही शरीर में विष की तीव्र जलन उत्पन्न हो गयी। “अरे ! विधाता के प्रतिकूल होने से क्या नहीं प्रतिकूल होता है ? वह दूध, घी, चीनी से युक्त अन्न मेरे लिए विष हो गया।” यह कहते हुए लड़खड़ाता हुआ हरिस्वामी ने यज्ञ करने वाले उस ब्राह्मण की उस पत्नी के पास जाकर कहा—“हे ब्राह्मणी ! तुम्हारे दिये हुए अन्न से मेरे लिये विष उत्पन्न हो गया है, तो जल्दी से किसी विष के मंत्र जानने वाले को बुलाओ, नहीं तो तुम्हें ब्रह्महत्या

लगेगी।" यह सुनकर उस पतिव्रता ने "यह क्या हुआ?" यह सोचकर व्याकुल होकर जब तक विष-मंत्र वाले को बुलाने का प्रत्यन्न किया, तब तक वह हरिस्वामी आँख उलटा कर मर गया। तब उस याज्ञिक ब्राह्मण के द्वारा मिथ्या अतिथि वध से उत्पन्न क्रोध से निर्दोष रहने पर भी अतिथि-सेवापरायण रहने पर भी वह पत्नी घर से निकाल दी गई। अच्छे कार्य से भी उत्पन्न झूठ अपवाद वाली अपमानित हुई उसने तपस्या करने के लिए तीर्थ का आश्रय ले लिया।

यह कथा कह कर वेताल ने पूछा, "महाराज ! इन सर्प, बाज तथा अन्न देने वाली किसको ब्रह्महत्या लगी ? इसका विवाद धर्मराज के पास भी हुआ था, लेकिन कोई निर्णय नहीं हो सका। तो राजेन्द्र ! तुम ही कहो कि किसको ब्रह्महत्या लगी ? जानते हुए भी झूठ कहने पर तुम्हारा वही शाप है, याद रखना।" यह सुनकर मौन त्यागकर राजा ने उस वेताल को कहा— "किसको वह पाप लगेगा ? साँप तो पराधीन था शत्रु से खाया जा रहा था तो इसमें उसका क्या अपराध, है ? एकाएक पहुँचे हुए अतिथि का अन्न से भोजन कराने वाले दोनों दम्पतियों का अथवा दोनों में से एक का कैसे दोष हो सकता है ? क्योंकि वे दोनों केवल धर्म करने में लगे हुए थे, अतः अपराध के योग्य नहीं है। मैं तो सोचता हूँ कि उसको यह ब्रह्महत्या लगेगी, जो बिना विचारे हुए इन तीनों में से किसी एक को ब्रह्महत्या लगने की बात कहेगा।"

(वेतालपञ्चविंशति, पृ. 110-113)

### 36. वाचाल से मृत्यु

पूर्व काल में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय बोधिसत्व अमात्य-कुल में पैदा हो, बड़े होने पर उसके अर्थधर्मानुशासक हुए। वह राजा बहुत बोलने वाला था। वह बोलता तो दूसरों को बोलने का मौका न मिलता। बोधिसत्व उसकी वाचालता हटाने का कोई उपाय सोचते हुए घूमते थे।

उस समय हिमालय-प्रदेश के किसी तालाब में एक कछुआ रहता था। दो हंस-बच्चों ने शिकार के लिए घूमते हुए उससे दोस्ती कर ली। उसके प्रति दृढ़ विश्वासी हो एक दिन हंस-बच्चों ने कछुवे से कहा— "दोस्त कछुवे ! हमारे हिमवन्त में चित्रकूट पर्वत के नीचे कञ्चन गुफा में रहने का रमणीक स्थान है। हमारे साथ चलेगा ?—"

"मैं कैसे चलूँगा ?"

"हम तुझे लेकर चलेंगे, यदि तू अपने मुँह पर काबू रख सकेगा, किसी को कुछ न कहेगा।"

"स्वामी ! काबू रखूँगा। मुझे लेकर चलो।"

उन्होंने 'अच्छ' कह स्वीकार किया। एक लकड़ी को कछुवे के मुँह में दे, उसके दोनों सिरों को अपने मुँह में ले, वे आकाश में उड़े। उसे इस प्रकार हंसों द्वारा लिए जाते देख गाँव के लड़कों ने कहा— दो हंस कछुवे को डंडे पर लिये जाते हैं।

हंसों की गति तेज होने के कारण वे वाराणसी नगर के राजमहल के ऊपर आ पहुँचे थे। कछुवे ने "दुष्ट छोड़ो। यदि मेरे मित्र मुझे ले जाते हैं तो इसमें तुम्हारा क्या ?" कहने की इच्छा से उस लकड़ी को जहाँ से पकड़ा था छोड़ दिया। वह खुले आँगन में गिर दो टुकड़े हो गया। एक शोर हुआ—कछुआ खुले आँगन में गिर दो टुकड़े हो गया।

अमात्यों से घिरे हुए राजा ने बोधिसत्व को साथ ले उस जगह पहुँच, कछुवे को देख पूछा— "पण्डित ! यह कैसे गिरा ?—"

बोधिसत्व ने सोचा— मैं बड़ी देर से राजा को उपदेश देने की इच्छा से किसी उपाय की खोज में घूमता हूँ। इस कछुवे की हंसों के साथ दोस्ती हुई होगी। वे 'इसे हिमवन्त ले चलें' सोच लकड़ी मुँह में दे आकाश में उड़े होंगे। इसने किसी की बात सुन जबान पर काबू न होने से कुछ कहने की इच्छा से डण्डा छोड़ दिया होगा। इस प्रकार आकाश से गिर कर मरा होगा। वह बोला— "हाँ ! महाराज ! जो वाचाल होते हैं, जिनके वचन की सीमा नहीं होती वे इस प्रकार दुःख को प्राप्त होते हैं।" इतना कह यह गाथाएं कहीं—

अवधी वत अत्तानं कच्छपो व्याहरं गिरं,  
सुगहीतस्मि कट्ठस्मि वाचाय सकिया वधि ॥

एतापि दिस्वा नरविरिय सेट्ठ।

वाचं पमुञ्चे कुसलं नातिवेलं,

पस्ससि बहुभाणेन कच्छपं व्यसनं गतं ॥

कछुवे ने वाणी का प्रयोग करके अपने को मार डाला। अच्छी तरह लकड़ी को पकड़े हुए अपनी वाणी के कारण (उसे छोड़कर) अपने को मारा। नरवीर्य श्रेष्ठ। इसे भी देखकर (आदमी को) कुशल-वाणी ही बोलनी चाहिए और वह भी समय (की सीमा) लाँघ कर नहीं। देखते ही हो, अधिक बोलने से कछुवा मर गया।

राजा ने 'मेरे लिए कह रहा है' सोच पूछा—“पण्डित ! मेरे बारे में कह रहा है ?—”

बोधिसत्व—महाराज ! “चाहे आप हों, चाहे कोई और हो, ” जो कोई सीमा लाँघ कर बोलता है, वह इसी प्रकार दुःख भोगता है । यह स्पष्ट करके कहा ।

उस समय से राजा संयम कर मितभाषी हो गया ।

(जातक II, पृ. 386-388)

### 37. शठ के प्रति शठता

पूर्व काल में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय बोधिसत्व अमात्य-कुल में पैदा हो, बड़े होने पर उस राजा के विनिश्चय अमात्य हुए ।

उसी समय एक ग्रामवासी तथा एक नगरवासी दो बनियों की आपस में मित्रता थी । ग्रामवासी ने नगरवासी के पास पाँच सौ फाल रखे । उसने उन फालों को बेच, कीमत ले, जिस जगह पर फाल रखे थे वहाँ चूहों की मँगने फैला दी । समय बीतने पर ग्रामवासी ने आकर कहा—मेरे फाल दे । कुटिल बनिए ने चूहों की मँगने दिखाकर कहा कि तेरे फालों को चूहे खा गए ।

दूसरे ने 'अच्छा खा गए सो खा गए, चूहों के खा लेने पर क्या किया जा सकता है' कह नहाने के लिये जाते समय उसके पुत्र को साथ ले जा एक मित्र के घर में बिठा कर कहा— इसे कहीं न जाने दें । फिर स्वयं नहा कर कुटिल बनिए के घर गया ।

उसने पूछा—“मेरा पुत्र कहाँ है ?—”

“मैं तेरे पुत्र को किनारे बैठा कर पानी में डुबकी लगा रहा था । एक चिड़िया आयी और तेरे पुत्र को पँजों में ले आकाश में उड़ गयी । मैंने हाथ पीटे, चिल्लाया, कोशिश की, लेकिन तब भी उसे न छुड़ा सका ।”

“तू झूठ बोलता है । चिड़िया बच्चों को लेकर नहीं जा सकती ।”

“मित्र हो, असम्भव होने पर भी मैं क्या करूँ ? तेरे पुत्र को चिड़िया ही ले गयी है ।”

उसने डरते हुए कहा—“अरे मनुष्यघातक दुष्ट चोर । अभी अदालत में जाकर निरालवाता हूँ ।” यह कह वह चला । “जो तुझे अच्छा लगे कर' कहते हुए वह भी उसके साथ अदालत गया । कुटिल व्यापारी ने बोधिसत्व से कहा—“स्वामी ! यह मेरे पुत्र को लेकर नहाने गया । अब “मेरा पुत्र कहाँ है ?” पूछने पर कहता है कि उसे

चिड़िया ले गयी । इस मुकदमे का फैसला करो ।”

बोधिसत्व ने दूसरे से पूछा—

“क्या यह सच है ?”

“स्वामी ! मैं उसे लेकर गया । चिड़िया की उसे ले जाने की बात सच ही है ।”

“क्या इस दुनिया में चिड़िया बच्चों को ले जाती है ?”

“स्वामी ! मैं भी आपसे पूछना चाहता हूँ कि चिड़िया तो बच्चों को लेकर आकाश में नहीं उड़ सकती, तो क्या चूहे लोहे के फाल खा सकते हैं ?”

“इसका क्या मतलब है ?”

“स्वामी ! मैंने इसके घर में पाँच सौ फाल रखे । यह कहता है कि तेरे फालों को चूहे खा गये और यह तेरे फालों को खाने वाले चूहों की मँगनी है दिखाता है । स्वामी ! यदि चूहे फालें खाते हैं, तो चिड़िया भी बच्चे ले जाती हैं । यदि नहीं खाते हैं, तो बाज तक भी नहीं ले जा सकते हैं । यह कहना है कि तेरे फालों को चूहे खा गये । उन्होंने खाए या नहीं खाए-इसकी परीक्षा करें, मेरे मुकदमे का फैसला करें ।”

बोधिसत्व ने सोचा—इसने शठ के प्रति शठता का व्यवहार करके जीतने की बात सोची होगी । उसने कहा—तूने ठीक सोचा है । और यह गाथा कही—

सठस्स साठेय्यमिदं सुचिन्तनं

पच्चोड्डितं पतिकूटस्स कूटं ।

फालञ्चे आदेय्युं मूसिका,

कस्मा कुमारं कुलला नो हरेय्युं ॥

कूटस्स हि सन्ति कूटकूटा,

भवति चापि निकतिनो निकत्या ।

देहि पुत्तनट्ठ फालनट्ठस्स फालं,

मा ते पुत्तमहासि फालनट्ठो ॥

शठ के प्रति शठता, यह अच्छा सोचा है । कुटिल के प्रति कुटिलता का जाल फैलाया है । यदि चूहे फाल खा जाएंगे, तो चिड़िया बच्चे को क्यों नहीं ले जाएगी ?

कुटिल के प्रति कुटिलता का व्यवहार करने वाला ठग है । ठग को भी ठगने वाले होते हैं । हे पुत्र—नष्ट ! जिसकी फाल खोयी गयी है उसकी फाल दे । तेरे पुत्र को, जिसकी फाल नष्ट हुई है, वह न ले जाए ।

“स्वामी ! मैं इसकी फाल देता हूँ, यदि यह मेरा पुत्र दे ।”

“स्वामी ! मैं देता हूँ, यदि यह मेरे फाल दे ।”

इस प्रकार, जिसका पुत्र खोया गया था, उसने पुत्र पाया । जिसकी फाल खोयी गई थी, उसने फाल पायी । दोनों कर्मानुसार गये ।

(जातक II, पृ. 394-396)

### 38. 'स्वयंभूदत्त की कथा'

कंचनपुर नगर में स्वयंभूदत्त और सुगुप्त नामक परस्पर दृढ़ प्रीति वाले और लोगों में प्रसिद्ध दो भाई रहते थे । अपने कुलक्रम के अनुसार से शुद्ध वृत्ति से आजीविका को प्राप्त कर वे समय सुखपूर्वक व्यतीत करते थे । एक समय क्रूर ग्रह के वश बरसात के अभाव से नगर में अति दुःखद भयंकर दुष्काल गिरा । तब बहुत समय से संग्रह किया हुआ बहुत बड़ा जंगी घास का समूह और बड़े-बड़े कोठार खत्म हो गये । इससे कमजोर पशुओं को और मनुष्यों को देखकर उद्विग्न बने राजा ने नीतिमार्ग को छोड़कर अपने आदमियों को आज्ञा दी कि—अरे ! इस नगर में जिसका जितना अनाज संग्रह हो उससे आधा-आधा जबरदस्ती जल्दी ले आओ । इस तरह आज्ञा को प्राप्त कर और यम के समान भृकुटी रचना भयंकर बनाकर उन राजपुरुषों ने सर्वत्र उसी प्रकार ही किया । इससे अत्यन्त क्षुधा से धन-स्वजन के नाश से और अत्यन्त रोग के समूह से व्याकुल लोग सविशेष मरने लगे, और घर मनुष्यों से रहित बनने के कारण गली धड़-मस्तक से दुर्गम बनने के कारण एवम् लोगों को अन्य स्वस्थ देशों में जाने के कारण वह स्वयंभूदत्त भी अपने भाई सुगुप्त सहित नगर में से निकल कर अन्य प्रदेश जाने के लिए एक सार्थवाह के साथ हो गया । साथ ही लम्बा रास्त पार करने के बाद जब एक अरण्य में पहुँचे, तब युद्ध में तत्पर शस्त्रबद्ध भिल्लो का धावा आ गया । जोर से चिल्लाते भयंकर धनुष्य ऊपर चढ़ाये हुये बाण वाले, बाँधे हुए मस्तक के ऊँचे चोटी वाले, यम ने भेजे हों इस तरह, तमाल ताड़ के समान काले, शत्रुओं को नाश करने में समर्थ, चमकती तेजस्वी तलवार वाले, इससे मानो बिजली सहित काले बादलों की पंक्ति हो इस तरह भयंकर, जंगली हाथियों को नाश करने वाले, हिरणों के माँस से अपना पोषण करने वाले माँसाहारी, उत्तम लोगों को दुःखी करने वाले, और युद्ध करने में एक सदृश रस रखने वाले, उन्होंने एकदम धावा बोल दिया । फिर युद्ध में समर्थ सार्थपति के सुभट भी भाले, तलवार, बरछी आदि शस्त्र हाथ में लेकर उसके साथ युद्ध करने लगे । इसमें बलवान समर्थ सुभट मरने लगे । कायर पुरुष डर के कारण भाग

गये और सार्थवाह बहुत दुःखी हुआ । कलिकाल जैसे धर्म का नाश करता है । वैसे अत्यन्त निर्दय और प्रचण्ड बल वाले भिल्ल समूह ने सारे सार्थ को लूट लिया । उसके बाद सार-सार वस्तुओं को लूटकर और सुन्दर स्त्रियों को तथा पुरुषों को कैद करके भिल्लों की सेना पल्ली में गई ।

अपने छोटे भाई से अलग पड़ा वह स्वयंभूदत्त को भी किसी तरह 'यह धनवान है' ऐसा मानकर भिल्लों की सेना ने पकड़ा और भिल्लों ने चिरकाल तक चाबुक के प्रहार और बन्धन आदि से, निर्दयता से सख्त मारते हुए भी जब उसने अपने योग्य कुछ भी वस्तु होने का नहीं माना, तब भय से काँपते सर्व शरीर वाले उसको, वे भिल्ल प्रचण्ड रूप वाली चामुण्डा देवी को बलिदान देने के लिए ले गये । मरे हुये पशु और भैंसे के खून की धाराओं से उसका मन्दिर अस्त-व्यस्त था । दरवाजे पर बँधे हुये बड़े अनेक घंटे भी विरस आवाज से बज रहे थे । पुण्य की मान्यता से हमेशा भिल्ल उसकी तर्पण क्रिया जीवों के बलिदान से करते थे । लाल कनेर के पुष्पों की माला से उसका पूजा-उपचार किया जाता था और हाथी के चमड़े की वस्त्रधारी तथा भयंकर रूपवाली थी । उस चामुण्डा के पास स्वयंभूदत्त को ले जाकर भिल्लों ने कहा कि—हे अधम वणिक ! यदि जीना चाहता है तो अब भी शीघ्र हमें धन देने की बात स्वीकार कर । अकाल में यम मंदिर में क्यों जाता है ? ऐसा बोलते उस स्वयंभूदत्त के ऊपर तलवार से घात करता है । उसके पहले अचानक महान् कोलाहल उत्पन्न होता है—अरे ! इन विचारों को छोड़ो, और स्त्रियों, बालक और वृद्धों का नाश करने वाले इन शत्रु वर्ग के पीछे लगे । विलम्ब न करो । इस पल्ली का नाश हो रहा है, और घर जल रहा है । यह शब्द सुनकर स्वयंभूदत्त को छोड़कर, चिखैरी सुभटों का आगमन जानकर, पवन को भी जीते ऐसा वेग से वे भिल्ल चामुण्डा के मंदिर में से तुरन्त निकले । और मैंने आज ही जन्म लिया अथवा आज ही सारी सम्पत्तियाँ प्राप्त की' ऐसा मानता स्वयंभूदत्त वहाँ से उसी समय भागा । फिर भयंकर भिल्लों के भय से घबराता पर्वत की खाई के मध्य में होकर बहुत वृक्ष और लताओं के समूह से युक्त उजड़ मार्ग में चलने लगा, परन्तु मार्ग में ही उसे सर्प ने डंक लगाया, इससे महाभयंकर वेदना हुई । इस कारण से उसने मान लिया कि अब निश्चय ही मैं मर जाऊँगा । जो कि महाशिकल से भिल्लों से छुटकारा प्राप्त किया तो अब यम समान सर्प ने डंक लगाया । हा ! विधि का स्वरूप विचित्र है । अथवा जन्म-मरण के साथ, यौवन जरा के साथ, योग-वियोग के साथ ही जन्म होता है, तो इसमें शोक करने से क्या लाभ ? ऐसा विचार करते जैसे ही ठंडे वृक्ष की छाया की ओर जाता है, वहाँ वृक्ष के नीचे रहे आसात्त्विक, विचित्र-नय सप्तभंगी से युक्त, दुर्जय सूर्य शास्त्र का परावर्तन करते,

पद्यासन में बैठे हुए धीर और शान्त मुद्रा वाले चारण मुनि को देखा ।

‘हे भगवन्त ! विषय विष वाले सर्प के जहर से व्याकुल मुझे इस समय आपका ही शरण हो ।’ ऐसा कहते हुए वह बेहोश होकर वहीं पर ही नीचे गिर पड़ा । उसके बाद जहर से बेहोश बने उसे देखकर उस महामुनि ने ‘करूँगा’ ऐसा विचार किया कि—‘अब क्या करना योग्य है ?’ सर्प जीवों को आत्म-तुल्य मानने वाला, साधुओं को पाप कार्यों में रक्त गृहस्थी की उपचार सेवा में प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है क्योंकि उसकी सेवा करने से निष्पाप जीवन वाले साधुओं को भी गृहस्थ जो-जो पाप स्थानक को सेवन करे उसने उसके प्रति रागरूपी दोष से निमित्त कारण बनता है । परन्तु यदि उपचार करने के बाद वह गृहस्थ तुरन्त सर्व संग छोड़कर प्रव्रज्या स्वीकार करके सद्धर्म के कार्यों में उद्यम करें तो उनकी की हुई निर्जरा भी मुनि को होती है ।’ ऐसा विचार करते उस साधु की दाहिनी आँख सहसा निमित्त बिना ही फड़कने लगी । इससे उसने उपकार होने की सम्भावना करके उसके पैर के अन्दर ऊपर के भाग में सूक्ष्म और विकार रहित सर्प के डंक को देखकर उस महामुनि ने चिन्तन किया कि—निश्चय ही यह जीयेगा । क्योंकि-सर्प-दंश का स्थान विरुद्ध नहीं है । शास्त्र में मस्तक आदि को ही विरुद्ध कहा है । वह इस प्रकार से—

मस्तक, लिंग, चिबुक अर्थात् होंठ के नीचे भाग में, गले, शंख, नेत्र और कान के बीच-कनपटी में, अंगूठे, स्तन भाग में, होंठ, हृदय, भ्रुकुटी, नाभि, नाक, हाथ, पैर के तलवे में, कन्धा, नख, नेत्र, कपाल, केश और संधि स्थान पर यदि सर्प डंक लगा हो तो यम के घर जाता है । पंचमी, अष्टमी, षष्ठी, नवमी और चतुर्दशी की तिथियों में यदि सर्प डंक लगा हो तो पखवारे में मरता है । परन्तु आज तिथि भी विरुद्ध नहीं है, नक्षत्र भी मधा, विशाखा मूल, आश्लेषा रोहिणी, आर्द्रा और कृतिका दुष्ट है, वह भी इस समय नहीं है और पूर्व मुनियों ने सर्प डंक लगने से मनुष्य को इतना अमंगल कह रहे हैं । शरीर कंप, लाल पड़ना, उबासी, आँखों की लाली, मूर्च्छा, शरीर टूटना, गाल में कृशाता, कांति कम हो, हिचकी और शरीर की शीतलता, यह तुरन्त मृत्यु के लिये होती है । इसमें से एक भी अमंगल नहीं दिखता है । इसलिए इस भव्य आत्मा के विष का प्रतिकार करूँ, क्योंकि जैन धर्म दया प्रधान धर्म है । ऐसा विचार कर ध्यान से ना बनाये स्थिर नेत्रों वाले वह महामुनि सम्यक् पूर्वक विशिष्ट सूत्र का स्मरण करने लगे । फिर जब उस महात्मा ने शरदचन्द्र के फैलती प्रभा के समान शोभती उज्ज्वल ए अमृत की नीक का अनुसरण करती शीतल अक्षरों किया पंक्ति को उच्चारण की, त सूर्य के तेज समूह से अंधकार जैसे नाश होता है, वैसे उसका महासर्प का जहर ना हुआ और वह सोया हुआ जागता है, वैसे स्वस्थ शरीर वाला हो उठा । उसके ना

‘जीवनदाता और उत्तम साधु है’ ऐसा राग प्रकट हुआ और अति मानपूर्वक वह चारण मुनि को नमस्कार करके कहने लगा कि—हे भगवन्त ! मैं मानता हूँ कि भ्रमण करते भयंकर शिकारी प्राणियों से भरी हुई इस अटवी में आपका निवास मेरे पुण्य से हुआ है । अन्यथा हे नाथ ! यदि आप यहाँ नहीं होते, तो महाविषधर सर्प के जहर से बेहोश हुआ मेरा जीवन किस तरह होता ? कहाँ मरुदेश और कहाँ फलों से समृद्धशाली महान् कल्पवृक्ष अथवा कहाँ निर्धनों का घर और कहाँ उसमें रत्नों की निधि ? इसी तरह अति दुःख से पीड़ित मैं कहाँ ? और अत्यन्त प्रभावशाली आप कहाँ ? अहो विधि के विलासों के रहस्यों को इस जगत में कौन जान सकता है ? हे भगवन्त ! ऐसी उपकारी आपको क्या दे सकता हूँ अथवा क्या करने से निर्भागी मैं ऋण मुक्त हो सकता हूँ ।

मुनि ने कहा कि—हे भद्र ! यदि ऋण मुक्त होने की इच्छा है तो तू अब निष्पाप प्रव्रज्या (दीक्षा) को स्वीकार कर । मैंने तेरे ऊपर उपकार भी निश्चय इस प्रव्रज्या के लिए किया है । अन्यथा अविरति की चिन्ता करने का उत्तम मुनियों को अधिकार नहीं है । और हे भद्र ! मनुष्य का धर्म रहित जीवन प्रशंसनीय नहीं है । इसलिए घर का राग छोड़कर, रागरहित उत्तम साधु बन, उसके बाद भाल प्रदेश हस्त कमल की अंजली जोड़कर उसने कहा कि—हे भगवन्त ! ऐसा ही करूँगा, केवल छोटे भाई का राग मेरे मन को पीड़ित करता है, यदि किसी तरह उसके दर्शन हो तो शल्य रहित और एक चित्त वाला मैं प्रव्रज्या स्वीकार करूँ । मुनि ने कहा कि—हे भद्र ! यदि तू जहर के कारण मर गया होता तो किस तरह छोटे भाई को देखने योग्य होता ? अतः यह निरर्थक राग को छोड़ दो और निष्पाप धर्म का आचरण कर, क्योंकि-जीवों को यह धर्म ही एक बन्धु, भ्राता और पिता तुल्य है । मुनि के ऐसा कहने से स्वयंभूदत्त ने श्रेष्ठ विनयपूर्वक प्रव्रज्या को स्वीकार की, और विविध तपस्या करने लगा । दुःसह परीषद की सेना को सहन करते, महासात्त्विक उस गुरु के साथ में गाँव, नगर आदि से युक्त धरती ऊपर विचरने लगा । इस तरह ज्ञान, दर्शनादि गुणों से युक्त उसने दीर्घकाल गुरु के साथ में विहार करके, अन्त में आयुष्य को अल्प जानकर भक्तपरीक्षा अनशन स्वीकार करते उस गुरु ने समझाया कि—‘हे महाभाग ! अन्तकाल की यह सविशेष आराधना बहुत पुण्य से मिलती है । इसलिए स्वजन, उपधि, कुल, गच्छ में और अपने शरीर में भी राग को करना नहीं चाहिए क्योंकि यह राग अनर्थों का मूल है । तब “इच्छामो अणुसद्भि” अर्थात् आपकी शिक्षा को मैं चाहता हूँ ।’ ऐसा कहकर गुरुवाणी में दृढ़रति वाला स्वयंभूदत्त ने अनशन को स्वीकार किया । और उसके पुण्योदय से आकर्षित होकर नगर जन उसकी पूजा करने लगे ।

इधर पूर्व में अलग पड़ा हुआ वह सुगुप्त नाम का उसका छोटा भाई परिभ्रमण करता हुआ उस स्थान पर पहुँचा, और नगर के लोगों को मुनि के वन्दन के लिए एक दिशा की ओर जाते हुए देखकर उसने पूछा कि—ये सभी लोग वहाँ क्यों जा रहे हैं? एक मनुष्य ने उससे कहा कि—यहाँ प्रत्यक्ष सदृश का भण्डार रूप एक महामुनि अनशन कर रहे हैं, इसलिए तीर्थ के सदृश उनको वन्दनार्थ ये लोग जा रहे हैं। ऐसा नुनकर कुतूहल से सुगुप्त भी लोगों के साथ में स्वयंभूदत्त साधु को देखने के लिए उस स्थान पर पहुँचा। फिर मुनि के रूप में भाई को देखकर वह बड़े जोर से रोते हुए कहने लगा कि—हे भाई! हे स्वजन वत्सल! कपटी साधुओं से तू किस प्रकार ठगा गया? कि अतिकृश शरीर वाला, तूने ऐसी दशा प्राप्त की है। अब भी इस पाखंड को हँडकर अपने देश जायेंगे। तेरे वियोग से निश्चय मेरा हृदय अभी ही फट जायेगा। उसने ऐसा कहा। तब स्वयंभूदत्त ने भी कुछ राग से उसे पास बुलाकर पूर्व का सारा वृत्तांत पूछा। और दुःख से पीड़ित उसने भी शोक से भाग्य फूटे शब्द वाली वाणी से 'भिल्लों का धावा से अलग हुआ' इत्यादि अपना वृत्तांत कहा। फिर ऐसे करुण शब्दों के सुनने से स्नेह राग प्रकट होने से कलुषित ध्यान वाला स्वयंभूदत्त सर्वार्थ सिद्धि की प्राप्ति के योग अध्यवसाय होते हुये उसे छोड़कर भाई के प्रति स्नेह रूपी दोष से मरकर सौधर्म देवलोक मध्यम आशुष्य वाला देव हुआ।

(श्री संवेग रंगशाला, पृ. 232-236)

### 39. विवाद से धन की हानि एवं राजकोष की वृद्धि

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व नदी तट पर वृक्ष-देवता हुए। उस समय मायावी नामक भार्या के साथ एक श्रृगाल नदी के किनारे एक जगह रहता था। एक दिन श्रृगाल से कहा—स्वामी! मुझे दोहद उत्पन्न हुआ है। ताजी रोहित मछली खाना चाहती हूँ। श्रृगाल बोला—व्यग्र न हो तेरे लिये लाऊँगा। पाँव में लता लपेटे वह नदी के साथ-साथ घूमता हुआ ठीक किनारे पर पहुँचा। उस समय गम्भीर-चारी तथा अनुतीर-चारी नामक दो ऊद बिलाव किनारे पर खड़े मछलियाँ खोज रहे थे। उनमें से गम्भीर चारी ने एक बड़ी मछली देख जल्दी से पानी में उतर उसे पूँछ से पकड़ा। बलवान मछली उसे खींचती ले गई। उस गम्भीरचारी ऊद बिलाव ने दूसरे को 'यह महामछली हम दोनों से पार नहीं पा सकेगी, आ मदद कर' बुलाते हुए पहली गाथा कही—

अनुतीरचारि भदन्ते सहायमनुधाव मं,  
महामेगहितो मच्छो सोमं हरति वेगसा ॥

हे अनुतीरचारी! तेरा भला हो। आ मेरी मदद कर। मैंने बड़ी मछली पकड़ी है। वह जोर से खींच लिये जाती है। यह सुन उसने दूसरी गाथा कही—

गम्भीरचारि भदन्ते दलहं गणहाहि थामसा,  
अहं तं उद्दरिस्सामि सुपण्णो उरगम्मिव ॥

हे गम्भीरचारी! तेरा भला हो। उसे दृढ़ता पूर्वक जोर से पकड़ो। मैं उसे खींच कर निकालूँगा जैसे गरुड़ साँप को। दोनों ने इकट्ठे हो रोहित मछली को बाहर निकाल जमीन पर रखा। उसे मार कर 'तू बाँट, तू बाँट' कह झगड़ा करने लगे। जब न बाँट सके तो रखकर बैठ गये। उसी समय गीदड़ वहाँ आ पहुँचा।

उसे देख उन दोनों उसका स्वागत कर निवेदन किया—मित्र दम्भपुष्प! यह मछली हम दोनों ने इकट्ठे होकर पकड़ी है उसे बाँट न सकने के कारण हम दोनों में विवाद छिड़ गया है। हमें-ये बराबर-बराबर बाँट दें। उन्होंने गाथा कही—

विवादो नो समुप्पन्नो दम्भप्फ सुणोहिमे,  
समेहि मेधगं सम्म विवादो उपसम्मत्तु ॥

हे दम्भपुष्प! हमारी बात सुन। हममें विवाद छिड़ गया है। मित्र इमारा न्याय कर, जिससे विवाद शान्त हो। उनकी बात सुनकर श्रृगाल ने अपना बल प्रकट करते हुए कहा—

धम्मट्ठोहं पुरे आसिं बहु अत्थं मेतीरितं,  
समेमि मेधगं सम्मा विवादो उपसम्मत्तु ॥

मैं पहले न्यायाधीश था। मैंने बहुत मुकदमों का निर्णय किया है। मैं तुम्हारे झगड़े का भली प्रकार निर्णय करता हूँ। जिससे विवाद शान्त हो। और बाँटते हुए यह गाथा कही—

अनुतीरचारि नङ्ग टठं सीसं गम्भीर चारिनो,  
अथायं मज्झिमो खण्डो धम्मट्ठस्स भविस्सति ॥

अनुतीर-चारी के लिये पूँछ, और गम्भीरचारी के लिये सिर और यह जो बीच का हिस्सा है यह न्यायाधीश का होगा।

इस प्रकार इस मछली को बाँट 'तुम झगड़ा न कर पूँछ और सिर खाओ' कह बीच का हिस्सा मुँह में ले, उनके देखते-देखते ही भाग गया। वे जुये में हजार-हजार

हारे की तरह बुरी शक्ल बनाकर बैठे और छठी गाथा कही—

चिरमि भक्खो अभविस्स सचे न विवेदेमसे,  
असीसिकं अनङ्गं, द्ढं सिगालोहरति रोहितं ॥

यदि झगड़ा न करते तो चिरकाल तक भोजन हो सकता था। बिना सिर और पूँछ की रोहित मछली को गीदड़ लिये जा रहा है।

शृगाल भी आज भार्या को रोहित मछली खिलाऊँगा सोच प्रसन्नतापूर्वक उसके पास गया। उसने आते देख स्वागत किया—

यथापि राजा नन्देय्य रज्जं लब्धान खत्तियो,  
एवाहमज्ज नन्दामि दिस्वा पुण्णमुखंपतिं ॥

जिस प्रकार क्षत्रीय राजा राज्य प्राप्त कर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार मैं भी आज पति को भरे मुँह आते देख प्रसन्न हूँ।

और वह प्राप्ति का उपाय पूछती हुई बोली—

कथन्नु थलजो सन्तो उदके मच्छं परामसि,  
पुटो मे सम्म अक्खाहि कथं अधिगतं तथा ॥

सौम्य ! मुझे बताओ कि स्थलचारी होकर पानी में मछली को कैसे पकड़ा ? इस मछली की प्राप्ति कैसे हुई ?

शृगाल ने उसकी प्राप्ति का उपाय बताते हुए यह गाथा कही—

विवादेन किंसा होन्ति विवादेन धनक्खया,  
जिना उदाविवादेन भुज्ज मायावी रोहितं ॥

विवाद से दुर्बल होते हैं। विवाद से धन-क्षय होता है। विवाद से ही ऊद-बिलाव मछली से वंचित हुये। हे मायावी ! रोहित मछली खा।

यह अभिसम्बुद्ध गाथा है—

एवमेवं मनुस्सेसु विवादो यत्थं जायति,  
धम्मट्ठं पीटथावन्ति सोहि नेसं विनायको  
धनापि तत्थ जीन्नन्ति राजकोसोपवड्ढति ॥

इसी प्रकार मनुष्यों में जहाँ विवाद पैदा होता है, वे न्यायाधीश के पास दौड़ते हैं। वह उनका न्याय करता है। उनके धन की हानि होती है और राजकोष बढ़ता है।

(जातक III, पृष्ठ 7-1400)

## 40. जैसी करणी वैसी भरणी

ब्राह्मण वध करने वाला धातु-क्षय का रोगी होता है, गौ वध वाला कुबड़ा, कन्या का वध करने वाला कुष्ठ रोगी। ये तीनों चाण्डाल योनि में उत्पन्न होते हैं। स्त्री-हत्या करने वाला पुलिन्द (वन में रहने वाला म्लेच्छ) गर्भपात करने वाला रोगी, नहीं संगम करने योग्य स्त्रियों के साथ सङ्गम करने से नपुंसक, गुरु पत्नी के साथ गमन से दुश्म रोगी होता है। माँस भक्षण करने वाले का शरीर अत्यन्त लाल होता है तथा मदिरा पीने वाले के दाँत काले, अभक्ष्य-भक्षण करने वाला ब्राह्मण जलोदर रोग से पीड़ित होता है। जो दूसरे को न देकर स्वयं मिष्ठान्न भक्षण करता है वह गलगण्ड रोगी, श्राद्ध में अपवित्र अन्न देने वाले को सफेद कोढ़ी होता है। घमण्ड से गुरु को अपमानित करने वाला मनुष्य मिरगी रोगी, वेद-शास्त्रों की निन्दा करने वाला काना, विवाह काट-छांट करने वाला बिना ओठ का, पुस्तक चुराने वाला पाण्डु रोगी होता है। मिथ्या गवाही देने वाले गंजा, पंक्ति भेद करने वाला जन्म का अन्धा होता है। गौ-ब्राह्मण को लात मारने से लंगड़ा, झूठ बोलने वाला, गदगद अस्पष्ट या असम्बन्ध वचन का झूठ सुनने वाला बहरा होता है। विष देने वाला जड़ एवं उन्मत्त तथा आग लगाने वाला खल्वाट गज्जा रोगी, दुर्गम माँस विक्रेता दूसरों का माँस खाने वाला रोगी होता है। रत्नों को चुराने वाला हीन जाति में, ताम्रादि धातु मात्र को चुराने वाला धन हीन होता है। अन्न हरण करने वाला मूसा, धान्य हरण करने वाला शलभ (टिड्डी), जल हरण करने वाला चातक, विष हरण करने वाला बिच्छू होता है। शाक और पत्ते को चुराने वाला मयूर, सुगन्ध को हरण करने वाला छल्लूँदर, शहद चुराने वाला वन-मक्खी, माँस हरण करने वाला गुद्ध एवं चुराने वाला चींटी होता है। ताम्बुल-फल-पुष्पादि का हरण करने वाला वन में वानर, जोता-तृण, रूई हरण करने वाला मेढ्रा होता है। हिंसादि उग्र कर्म से जीविका चलाता है, मार्ग में यात्रियों को लूटता है तथा शिकार का व्यसनी है, वह कसाई के घर में बकरा होता है। विष खाकर मर जाता है वह पहाड़ पर काला साँप, मन चाहा कार्य करने के स्वभाव वाला निर्जन वन में हाथी होता है। सब कुछ भक्षण करते हैं तथा जाँच-पड़ताल किये बिना सबके यहाँ खाते हैं वे निर्जन वन में बाघ होते हैं। भीतर से दुष्ट एवं बाहर से साधु प्रतीत हो वह बगुला होता है। जो ब्राह्मण आयाज्यों का यज्ञ करता है वह ग्राम सूकर होता है इस प्रकार के बहुत यज्ञ कराने से गधा बिना निमंत्रण के भोजन करने से कौआ होता है। ब्राह्मण पात्र को विद्या नहीं देता वह बैल होता है। गुरु की सेवा नहीं करने वाला गर्दभ होता है। गुरु को हूँ और तू करता है वह वन तथा जल-रहित देश में ब्रह्म राक्षस होता है। ब्राह्मण को संकल्पित

दान नहीं देता वह सियार, सत्पुरुषों का सत्कार न करने वाला फू-फू कर्ता (भात पकबा) ब्राह्मण होता है। मित्र से द्रोह करने वाला पर्वत पर गृध्र, ठगकर खरीदने वाला उल्लू, वर्णाश्रम निन्दक वन में कबूतर होता है। जो आशा एवं प्रीति भङ्ग करता है, वह चिरकाल तक चकवा पक्षी होता है। माता-पिता, गुरु, बहिन और भाई से द्वेष करने वाला हजारों योनियों में जाता है और गर्भ में नष्ट होता है। जो स्त्री सास-ससुर को गाली देती है और प्रतिदिन कलह करती है वह जोक, जो पति को फटकारती है वह यूका होती है। जो स्त्री अपने पति का परित्याग करके पर पुरुष का अनुगमन करती है, वह बल्गुली, छिपकली, दो मुख वाली साँपिन होती है। जो अपने गोत्र की स्त्री में-गमन करके अपने गोत्र को भ्रष्ट करता है, वह चीता और साही होकर भालू की योनि में जन्म लेता है। कामुक पुरुष तपस्विनी के साथ गर्भाधान करने से मरुदेश का पिशाच, अप्राप्त यौवना स्त्री के साथ सङ्गम करने से वन अजगर होता है। जो पुरुष गुरु-पत्नी के साथ समागम करने की इच्छा करता है वह गिरगिट, रानी के साथ सङ्गम करने पर दुष्ट, मित्र की पत्नी का उपभोग करने पर गदहा होता है। गुदा गमन करने वाला सूअर, शूद्रा से सङ्गम करने वाला बैल, महान कामुक व्यभिचारी है वह घोड़ा होता है। मृतक के एकादशाह में भोजन करने वाला कुत्ता होता है। ब्राह्मण देवलक वेतन लेकर देव पूजन करने वाला वह मुर्गा की योनि में जन्म लेता है। ब्राह्मण द्रव्य के लिए देवता की पूजा करता है वह देवलोक कहलाता है और वह देव-पितृ कार्यों में निन्दित है। महापात की महान पापों से जनित भयङ्कर नरकों में पहुँचते हैं। फिर कर्म के क्षय होने पर संसार में जन्म लेते हैं। ब्राह्मण का वध करने वाला गदहा, ऊँट और भैंस, मदिरा पान करने वाला भेड़िया, कुत्ता सियार की योनि में जन्म लेता है। सोना चुराने वाला कृमि, पतङ्ग, गुरु-पत्नी से सम्भोग करने वाला क्रमशः तृण, गुल्म (टूठा वृक्ष) तथा लता होता है। पराई स्त्री धरोहर एवं ब्राह्मण के धन का अपहरण करने वाला ब्रह्म-राक्षस होता है। प्रेम से खाया हुआ ब्राह्मण का धन सात पीढ़ी तक कुल को नाश कर देता है। जबरदस्ती या चोरी से खाया तो वह चन्द्रमा और ताराओं के रहने तक उसका नाश करता है। मनुष्य लोहचूर्ण, पत्थर चूर्ण, तथा विष को पचा सकता है, किन्तु ब्राह्मण का धन तीनों लोक में कौन पचा सकता है? ब्राह्मण के धन के पोषित राजा के हाथी, घोड़े एवं सैनिक युद्ध काल में बालू की बाँध की भाँति नष्ट हो जाते हैं। देव-द्रव्य के उपभोग से, ब्राह्मण के धन का अपहरण तथा उसका अतिक्रमण करने से सुन्दर कुल कुत्सित कुल होता है। वेद-शास्त्र के पारङ्गत एवं अपने आश्रित विप्र को छोड़कर दूसरे ब्राह्मण को जो दान दिया जाए अतिक्रम कहलाता है। दुष्कर्म करने वाले नरकों की यातना भोगकर अवशिष्ट पाप से इन योनियों में उत्पन्न होता है। तदन्तर हजारों वर्ष में

सर्पादि तिर्यक योनि वाले शरीर को प्राप्त कर वे भार वहन करने वाले पशुओं की दुःखमय योनि में जन्म लेते हैं। वृष्टि, शीत, आतप से उत्पन्न पक्षियों के दुःख को भोगकर शुभ-अशुभ कर्मों के समान हो जाने के पश्चात् मनुष्य शरीर को प्राप्त करता है। स्त्री-पुरुष के प्रसङ्ग से गर्भ में क्रय से जीव होकर गर्भ के मरण तक दुःख भोगकर फिर मर जाता है। सभी शरीरधारियों का जन्म तथा मरण होता रहता है। चार प्रकार के अण्डज-पिण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज, इन प्राणियों में इस प्रकार का चक्र चलता रहता है।

अदत्तदानाच्च भवेद्दरिद्रो दरिद्रभावाच्च करोति पापान् ।

पापंप्रभावान्नरकं प्रयांति पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी ॥

दान न देने से दरिद्र होने से पाप करता है, पापा के प्रभाव से नरक में जाता है, फिर दरिद्री होता है, पापाचरण करता है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥

किये हुए अपने शुभ-अशुभ कर्मों को अवश्य भोगना पड़ता है, बिना भोगे करोड़ों कल्प तक कर्म का क्षय नहीं होता।

(गरुड़ पुराण, पृ. नं. 56-66)

## 41. झूठन खिलाने वाली भार्या में क्यों अनुराग ?

शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय पूर्व भार्या की आसक्ति के बारे में कही—

शास्ता ने पूछा—भिक्षु, क्या तू सचमुच उत्कण्ठित है ?

“सचमुच ।”

“तुझे किसने आकर्षित किया ?”

“पूर्व भार्या ने ।”

“भिक्षु ! यह स्त्री तेरा अपकार करने वाली है। पहले भी इसने तुझे अपने जार का झूठा खिलाया है।

इतना कह पूर्व-जन्म की कथा कही—

पूर्व काल में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय बोधिसत्व ने एक ऐसे

दरिद्र नट के कुल में जन्म ग्रहण किया जो भीख माँगकर जीविका चलाता था। बड़े होने पर वह दरिद्र अवस्था को प्राप्त हो भीख माँग कर जीविका चलाने लगे।

उस समय काशी देश के एक गाँव में एक ब्राह्मण की ब्राह्मणी दुष्शीला थी, पापिनी थी, व्याभिचार करती थी। एक दिन किसी काम से जब ब्राह्मण बाहर गया तो उसका जार मौका देख घर में घुस आया। उसने उसके साथ अनाचार कर चुकने पर कहा—“कुछ अच्छा खाकर ही जाओगो?” उसने भात तैयार कर दाल (सूप) ज्यञ्जन से युक्त भात परोस कर दिया कि तू खा। स्वयं ब्राह्मण के आगमन की प्रतीक्षा करती हुई द्वार पर खड़ी हुई।

उस समय बोधिसत्व ब्राह्मणी के जार के खाने की जगह पर भीख की प्रतीक्षा में खड़े थे। तभी ब्राह्मण घर की तरफ आया। ब्राह्मणी ने उसे आता देख जल्दी से घर में जाकर जार को कहा—‘उठ, ब्राह्मण आ रहा है’ और उसे कोठे में उतार दिया। ब्राह्मण के घर में दाखिल हो बैठने के समय पीढ़ा तथा हाथ धोने को पानी दे जार के झूठे छोड़े ठंडे भात के ऊपर गरम भात परोस दिया। उसने जब भात में हाथ डाला तो ऊपर का भात गरम और नीचे का ठंडा पाया। वह सोचने लगा कि यह दूसरे का खाकर बचा हुआ झूठा भात होगा। उसने ब्राह्मणी से पूछते हुए पहली गाथा कही—

अञ्जे उपरिमो वण्णो अज वण्णोव हेट्ठिमो,  
ब्राह्मणिं त्वेव पुच्छामि किं हेट्ठा किं च उप्परि ॥

ऊपर (के भात) का रंग ढंग दूसरा है, नीचे (के भात) का दूसरा। ब्राह्मणी ! तुझे ही पूछता हूँ कि यह क्या ऊपर है और क्या नीचे ?

ब्राह्मणी अपनी करतूत के प्रकट हो जाने के भय से ब्राह्मण के बार-बार कहने पर भी चुप रही। उस समय बोधिसत्व को यह सूझा कि कोठे में बिठाया हुआ आदमी जार होगा और यह घर का स्वामी। ब्राह्मणी अपनी करतूत के प्रकट होने के भय से कुछ नहीं बोलती। हन्त ! मैं इसकी करतूत प्रकट कर जार के कोठे में बिठाए होने की बात कह दूँ।

उसने ब्राह्मण के घर से निकलने से जार के घर में प्रवेश करने, अनाचार करने, श्रेष्ठ भात खाने, ब्राह्मणी का दरवाजे पर खड़े हो रास्ता देखने और जार को कोठे में उतारने तक का सब हाल कह दूसरी गाथा कही—

अहं नटोस्मि भदन्ते भिक्खुकोस्मि इधागतो,  
अयं हि कोट्ठमोत्तिण्णो अयं सो यं गवेससि ।

स्वामी ! मैं नट हूँ। भीख माँगने के लिए यहाँ आया हूँ। यह है कोठे में उतरा हुआ और यह ही है जिसे तू खोजता है।

ब्राह्मण उन दोनों को डरा, पीट कर ऐसी शिक्षा दे, जिसमें वे फिर ऐसा पाप-कर्म न करें, कर्मानुसार गया।

शास्ता ने यह धर्मदेशना ला सत्त्यों को प्रकाशित कर जातक का मेल बैठाया। सत्त्यों के अन्त में उत्कण्ठित भिक्षु स्रोतापति फल में प्रतिष्ठित हुआ।

उस समय ब्राह्मणी पूर्व-भार्या थी। ब्राह्मण उत्कण्ठित नट-पुत्र मैं ही था।

(जातक II, पृ. नं. 376-378)

## 42. त्याग का मूल्य

श्रमण भगवान् महावीर के पंचम गणधर आर्य, सुधर्मा के चरणों में जहाँ एक ओर बड़े-बड़े राजा, राजकुमार तथा श्रेष्ठी, श्रेष्ठी कुमार आकर मुनि दीक्षा लेते, वहाँ दूसरी ओर दीन दरिद्र यहाँ तक कि पथ के भिखारी भी दीक्षित होते, साधना करते। इसी श्रृङ्खला में एक बार राजगृह का एक दीन लकड़हारा भी विरक्त होकर मुनि बन गया था। साधना के क्षेत्र में तो आत्मा की ही परख होती है, देह, वंश और कुल की नहीं।

एक बार महामात्य अभयकुमार सामन्तों के साथ वन विहार के लिए जा रहे थे कि मार्ग में वही लकड़हारा मुनि भिक्षा के लिए नगर में प्रवेश करते हुए सामने मिल गये। अभय—कुमार ने घोड़े से नीचे उतर कर मुनि चरणों में भक्ति भाव से विनम्र वन्दना की। घूम कर उसने पीछे देखा, तो सामन्त लोग कनखियों में हँस रहे थे। सामन्त ही नहीं, आस-पास खड़े अन्य नागरिक भी मजाक के मूड में थे।

महामंत्री अभय ने सामन्तों के हँसने का कारण जान लिया। फिर भी उसने पूछा तो एक सामन्त ने व्यंगपूर्वक कहा—‘मगध का महामंत्री किस राजर्षि के चरणों में सर झुका रहा है ? जो कल दर-दर की ठोकरें खाने वाला एक दीन लकड़हारा था। वही आज बहुत बड़ा त्यागी बन गया। धन्य हो, इतना गजब का त्याग उसने किया है कि मगध के महामंत्री भी अश्व से नीचे उतर कर प्रणाम करते हैं। यह कितनी प्रसन्नता की बात है ?

सामन्त के शब्दों में तीखा व्यंग था, त्याग का उपहास था। अभय कुमार को उक्त संस्कारहीन परिहास पर रोष तो आया, परन्तु उसके प्रबुद्ध विवेक ने मधुर मुस्कान

की मुद्रा में उस रोष को भीतर ही भीतर पी लिया। अज्ञान और अहंकार का प्रतिकार ज्ञान और नम्रता से ही हो सकता है। अभय कुमार इस बात को जानता था कि सामन्त ने मगध के महामंत्री का उपहास नहीं किया, किन्तु ज्ञातृ पुत्र महावीर की क्रांतिकारी त्याग-परम्परा का उपहास किया है। भोग का कीड़ा त्याग की ऊँचाई की कल्पना करे भी तो कैसे करे? एक गंभीर और अर्थपूर्ण मुस्कराहट के साथ अभय कुमार आगे बढ़ गए। सब लोग वन-विहार का आनन्द लेकर अपने-अपने महलों में लौट आए।

दूसरे दिन महामंत्री ने राजसभा में एक-एक कोटि स्वर्ण-मुद्राओं के तीन ढेर लगवाए और खड़े होकर सामन्तों से कहा—“जो व्यक्ति जीवन भर के लिए कच्चे जल का उपयोग, अग्नि का उपयोग और स्त्री-सहवास का त्याग करे, उसे मैं ये तीन कोटि स्वर्ण-मुद्राएं उपहार में दूँगा।”

सभा में सन्नाटा छा गया, समागत सभी सामन्त एक दूसरे के मुँह को ताकने लगे।

“कितना कठिन है?” एक सामन्त ने कहा।

“इन तीनों के त्याग का मतलब है एक तरह से जीवन का ही त्याग। फिर तो साधु ही न बन गये और तब इन स्वर्ण-मुद्राओं का करेंगे क्या?” एक दूसरे सामन्त ने पास में बैठे सामन्त से कहा।

सभा से कोई उत्तर नहीं मिला। महामंत्री फिर खड़े हुए और धीर-गंभीर स्वर में बोले—“लगता है, हमारे वीर सामन्त एक साथ तीन बड़ी शर्तों को देख कर अचकचा गए हैं। अच्छा तो उनके लिए विशेष सुविधा की घोषणा किए देता हूँ। तीनों में से किसी एक ही प्रतिज्ञा करने वाले को भी स्वर्ण-मुद्राएं दी जा सकती हैं।”

फिर भी सभा में सन्नाटा छाया रहा। कोई भी वीर सामन्त महामंत्री की इस नरम की गई शर्त को भी स्वीकार करने का साहस नहीं कर सका। महामंत्री ने सभा पर गंभीर दृष्टि डाली—“क्या कोई व्यक्ति यह साधारण-सा त्याग करने का भी साहस भी नहीं कर सकता?”

तभी एक समवेत ध्वनि गूँज उठी—“नहीं, नहीं महामात्य! यह साधारण कहाँ, यह तो असाधारण साहस है? एक ही वस्तु के सम्पूर्ण त्याग का अर्थ है-जीवन की समस्त सुख-सुविधाओं का आमोद-प्रमोदों का त्याग। कितना असाधारण।” सामन्तों के सिर नकार में हिल रहे थे।

“तो फिर सामन्तों! जिस व्यक्ति ने इन तीनों का त्याग किया हो वह कितना महान् और कितना वीर योद्धा होगा आध्यात्मिक साधना-क्षेत्र का?”

“अति महान्! अति वीर! अवश्य ही वह अत्यन्त कठिन एवं असाधारण साहस का कार्य करने वाला है, उसका त्याग महान् है।”— एक साथ कई ध्वनियाँ गूँज उठीं।

“वीर सामन्तों! हमने कल जिस मुनि को नमस्कार किया था, वह इन तीनों का ही नहीं, बल्कि ऐसे अनेक असाधारण उग्र-व्रत तथा प्रतिज्ञाओं का पालन करने वाला वीर है, त्यागी है उसके पास भोग के साधन भले ही अल्प रहे हों, पर भोग की अनन्त इच्छाओं को उसने जीत लिया है। त्याग का मान-दंड राजकुमार या लकड़हारा नहीं हुआ करता, व्यक्ति के मन की सच्ची विरक्ति हुआ करती है।”

महामंत्री के विश्लेषण पर सामन्त मौन थे। साथ ही प्रसन्न भी। कई झुके हुए चेहरों पर पश्चाताप की निर्मल रेखाएँ भी प्रस्फुटित होती देखीं महामात्य ने। दूसरे ही क्षण, जैसे एक दिव्य नवीन प्रकाश मिल गया हो, सबके सब चेहरे पुलक उठे और ‘धन्य धन्य’ के हर्ष-मिश्रित गंभीर घोष से राजसभा का कोना-कोना गूँज गया।

(जैन—इतिहास की प्रसिद्ध कथाएँ, पृ. 63)

### 43. ‘अविश्वास का फल’

किसी पर्वत के एक भाग में एक बड़ा वृक्ष था। वहाँ सिन्धुक नामक कोई पक्षी रहता था। उसकी बीट में सुवर्ण पैदा हुआ करता था। किसी समय कोई शिकारी उसके पास आया। पक्षी ने उसके सामने ही बीट को, गिरने के साथ ही उसे सुवर्ण में परिवर्तित होता देख व्याध को आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा—‘ओह! बचपन से ही पक्षियों को पकड़ने में आसक्त मेरे ८० वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु कभी भी मैंने पक्षी की बीट में सुवर्ण नहीं देखा।’ यह विचार कर उस वृक्ष पर उसने जाल लगा दिया। वह मूर्ख पक्षी भी विश्वस्त-चित्त से पहिले की तरह ही बैठा रहा। उसी समय पाश में बँधा गया। व्याध पाश से खोलकर और उसे पिंजरे में बंद कर अपने घर ले गया। तब वह सोचने लगा— विपत्ति में फँसाने वाले इस पक्षी को लेकर मैं क्या करूँगा? यदि कोई इसकी यह विशेषता जान कर राजा को सूचित कर देगा तो निश्चय ही मेरे प्राण संशय में पड़ जायेंगे। इसलिए मैं स्वयं ही इस पक्षी को राजा की भेंट कर दूँ (श. सूचित कर दूँ) यह विचार कर उसने वैसा ही किया।

उस पक्षी को देखकर राजा के नेत्र और मुखरूपी कमल खिल गये और वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे कहने लगे—‘राज पुरुषों! यत्नपूर्वक इस पक्षी की रक्षा करो,

खाने-पीने की वस्तुएं इच्छानुसार दो ।' तब मंत्री ने कहा—'केवल विश्वास के अयोग्य इस व्याध के वचन पर विश्वास कर इस पक्षी के पकड़ने से क्या लाभ ? क्या कभी पक्षी के मल में सुवर्ण हो सकता है ? इसलिए इसे पिंजरे से मुक्त कर दो ।' मन्त्री के इस कथन के अनुसार राजा ने उसे छोड़ दिया । छूटते ही वह दरवाजे के ऊँचे तोरण द्वार पर जा बैठा और सुवर्णरूपी बीट करके इच्छानुसार आकाश में उड़ गया ।

(पञ्चतन्त्रम्—काकौलूकीयम्— पृ. 87-88)

#### 44. 'दुःख में सुमिरन सब करें'

पूर्व समय में एक काशी निगम में एक ब्राह्मण तरुण था— सुंदर, बलवान, हाथी के समान बलशाली । उसने सोचा—“कृषि कर्म आदि करके माता-पिता को पालने-पोसने से मुझे क्या लाभ, पुत्र दारा से भी मुझे क्या प्रयोजन, दानादि पुण्य कर्मों का भी क्या प्रयोजन, मैं किसी का पालन-पोषण न कर, किसी प्रकार का पुण्य कर्म न कर, आरण्य में जा, मृगों को मार अपने-आप को ही पालूँ-पोसूँगा ।” उसने पाँच आयुध लिये और हिमालय जाकर अनेक-मृगों को मार खाता हुआ, हिमालय के अन्दर विधवा नामक नदी के तीर पर, पर्वतों से घिरे हुए बड़े भारी पर्वत जाल में पहुँचा । वहाँ मृगों को मार-अङ्गारों पर पका माँस खाता हुआ रहने लगा । उसने सोचा—“मैं सदा शक्तिशाली न रहूँगा दुर्बल हो जाने पर आरण्य में घूम न सकूँगा । अभी नाना-वर्ण के मृगों को पर्वत जाल में प्रविष्ट कर द्वार का प्रबंध कर, बिना आरण्य में भटके ही यथा रुचि मृगों को मार-मार कर खाऊँगा ।” उसने वैसा किया । समय बीतने पर उसका कर्म पूरा हो गया, उसने इसी जन्म में फल दिया-उसके हाथ-पैर नहीं रहे । इधर-उधर पलट नहीं सकता । कुछ खाना-पीना नहीं दिखाई देता था । शरीर म्लान हो गया । मनुष्य-प्रेत हो गया । जैसे ग्रीष्मकाल में पृथ्वी फट कर उसमें दरार पड़ जाती है, वैसा ही उसका शरीर फूट कर उसमें लकीरें पड़ गईं । इस प्रकार कुरुप और कुठंगा होकर उसने बहुत दुःख पाया ।

इस प्रकार समय व्यतीत होने पर, सिवि-राष्ट्र के सिवि-राज की इच्छा हुई कि वह आरण्य में अङ्गारों पर पका माँस खाये । उसने अमात्यों को राज्य सौंपा और पाँचों आयुध ले आरण्य में गया । यहाँ मृगों को मार माँस खाता हुआ क्रमशः उस प्रदेश में पहुँचा । वहाँ उस आदमी को देख, डर लगने पर भी संभले रह कर पूछा—“भी पुरुष ! तू कौन है ?”

“स्वामी ! मैं मनुष्य-प्रेत हूँ । अपने किये कर्म को भोग रहा हूँ । किन्तु, तू कौन

है ?”

“मैं सिवि-राजा हूँ ।”

“यहाँ किस लिये आया है ?”

“मृग-माँस खाने के लिये ।”

“महाराज ! मैं भी इसी उद्देश्य से यहाँ आकर मनुष्य-प्रेत हो गया ।” उसने सब कुछ विस्तार-पूर्वक कह अपनी दुखित अवस्था का वर्णन करते हुए शेष गाथायें कहीं—

अमितानं व हृत्थत्थं सिव पणोति मम्मिव,

कम्मं विज्जं च दक्खेय्यं विवाहं सीलमह्वं,

एते च यसे हापेत्वा निब्बतो सेहि कम्मेहि ॥ 7 ॥

सोहं सहस्सजिनोव अबन्धु अपशयनो,

अरियधम्मा अपक्कन्तो यथा येतो तथेवहं ॥ 8 ॥

सुख कामे दुक्खापेत्वा आपत्रोस्मि पदं इमं,

सो सुखं नाधिगच्छामि तितो भानुमतामिव ॥ 9 ॥

हे सिविराज ! मेरी तरह शत्रु के हाथ में पड़े की तरह हो जाता है । मैं (कृषि आदि) कर्म, विद्या, दक्षता, विवाह, शील तथा मृदु-भाव छोड़कर अपने दुष्कर्म के कारण इस अवस्था को प्राप्त हुआ ।

वह मैं हजार हारे की तरह, अबन्धु, अशरण, आर्य धर्म से दूर होने के कारण प्रेत जैसा हो गया ।

सुख की कामना करने वाले प्राणियों को दुःख देने के कारण मैं इस अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ । मैं आग में स्थित व्यक्ति की तरह सुख का अनुभव नहीं करता हूँ ।

यह कह कर 'महाराज ! मैंने अपने सुख की कामना से दूसरे को दुःख दिया । इसलिये इसी जन्म में मनुष्य-प्रेत हो गया । तू पाप न कर । अपने नगर लौट कर दानादि पुण्य-कर्म कर' कहा । राजा वैसे करके स्वर्गगामी हुआ ।

(जातक — चतुर्थ खण्ड, पृ. 125-127)

## 45. जीवन ओस - बिन्दु

पूर्व समय में रम्भनगर में सब्बदत्त नाम का एक राजा था। सब्बदत्त राजा के हजार पुत्र थे। उसने युवञ्जय नामक ज्येष्ठ पुत्र को उपराजा बनाया। उसने एक दिन प्रातःकाल ही रथ पर चढ़ बड़े वैभव के साथ उद्यान-क्रीड़ा के लिए जाते हुए वृक्षों के सिरों पर तृणों के सिरों पर और शाखाओं के सिरों पर और मकड़ी के जाल के सूत्र आदि में मोतियों के जाल की तरह लटकती हुई ओस की बूँदें देखी। तब प्रश्न किया—

“मित्र सारथी ! यह क्या है ?”

“देव ! यह हिमपात के समय पड़ने वाले ओस-बिन्दु हैं।”

वह दिन भर उद्यान में खेलता रहा। शाम को लौटते समय उन्हें न देख पूछा—“मित्र सारथी ! वे कहाँ गये ? अब वे ओस-बिन्दु दिखाई नहीं देते।”

“देव ! वे सूर्य के उदय होने पर, सभी छीज कर पृथ्वी में चले जाते हैं।”

यह सुन उसे संवेग हुआ। वह सोचने लगा—“इन प्राणियों का जीवन भी तिनके पर लगे ओस-बिन्दु के समान है। मुझे व्याधि जरा से अपीडित रहते ही रहते, माता-पिता से पूछ कर प्रव्रजित होना चाहिये।” उसने ओस की बूँद का ही ध्यान घर, तीनों भवों को जलता हुआ देख, अपने घर न जा, सजी-सजाई विनिश्चय-शाला में बैठे पिता के पास जा, पिता को प्रणाम कर एक ओर खड़े हो प्रव्रज्या की याचना की—

मैं मित्र तथा अमात्यों से घिरे हुए राजा को प्रणाम करता हूँ। हे महाराज ! मैं प्रव्रजित होऊँगा। हे देव ! मुझे आज्ञा दें।

राजा ने उसे रोकते हुए दूसरी गाथा कही—

यदि तुझे काम-भोगों की कमी है, तो मैं उसे पूरा कर देता हूँ। जो तुझे कष्ट देता हो, उसे रोक देता हूँ। युवञ्जय ! प्रव्रजित मत हो।

यह सुन कुमार ने तीसरी गाथा कही—

न मत्थि ऊनं कामेहि हिंसिता मे न विज्जति,

दीपञ्च कातुमिच्छामि, यं जरा नाभिकीरति ॥ 3 ॥

मुझे काम-भोगों की कमी नहीं है और मुझे कोई कष्ट पहुँचाने वाला भी नहीं है। मैं ऐसा द्वीप बनाना चाहता हूँ, जिसे जरा न डुबा सके।

इस बात को कहते हुए शास्ता ने आधी गाथा कही—

पुत्र पिता से प्रार्थना करता और पिता पुत्र से

शेष आधी-गाथा राजा ने कही—

तात ! निगमवासी प्रार्थना करते हैं कि प्रव्रजित मत हो।

कुमार ने फिर (निवेदन किया) —

मा मं देव निवारेसि, पब्बजंतं रथेसम,

माहं कामेहि सम्मत्तो, जराय वसमन्वगु ॥ 5 ॥

हे राजन ! हे देव ! मुझे प्रव्रज्या से मत रोकें। मैं काम-भोगों में प्रमादी होकर जरा के वशीभूत न होऊँ।

यह सुन राजा अप्रितम हो गया। माता ने जब सुना कि देवी ! तेरा पुत्र पिता से प्रव्रज्या की आज्ञा माँग रहा है तो वह बोली—तुम क्या कह रहे हो ? वह साँस रोक कर सोने की पालकी में बैठी और शीघ्र ही विनिश्चयशाला में पहुँच (पुत्र से) प्रार्थना करते हुए छठी गाथा बोली—

हे तात ! मैं तुझ से याचना करती हूँ, हे पुत्र ! मैं तुझे रोकती हूँ। मैं तुझे चिरकाल तक देखते रहना चाहती हूँ। युवञ्जय ! तू प्रव्रजित मत हो।

यह सुन राजकुमार ने सातवीं गाथा कही—

उस्सावो व तिणग्गम्हि, सुरियस्स उग्गामनं पति,

एवं आयु मनुस्सानं, या मं अम्म निवारये ॥ 7 ॥

सूर्य उदय होने पर जैसे तिनके पर की ओस की बूँद नहीं रहती, वही हाल मनुष्यों की आयु का है। माँ ! मुझे (प्रव्रज्या से) मत रोक।

ऐसा कहने पर भी उसने बार-बार आग्रह किया। तब बोधिसत्व ने पिता को निमन्त्रित कर आठवीं गाथा कही—

हे राजन ! मेरी माँ को शीघ्रता से इस पालकी में बिठा दिया जाय। मेरी माता मेरे (संसार-सागर के) तैरने में बाधक न बने।

राजा ने पुत्र की बात सुन कहा—“भद्रे ! जा अपनी पालकी में बैठ। रति-वर्धन महल में ही जाकर रह।” वह उसकी बात सुन खड़ी न रह सकने के कारण नारियों के साथ जाकर प्रासाद पर चढ़ी और खड़ी हो विनिश्चय-द्वार की ओर आँख लगाये यही सोचने लगी—पुत्र का समाचार क्या है ? बोधिसत्व ने भी माता के चले जाने पर फिर

पिता से आज्ञा माँगी। राजा ने उसे रोक न सकने के कारण आज्ञा दे दी—तो तात ! अपनी इच्छा पूरी कर। प्रव्रजित हो जा। आज्ञा मिलने के समय बोधिसत्व के छोटे भाई युधिष्ठिर कुमार ने भी पिता को प्रणाम कर आज्ञा माँगी—तात ! मुझे भी प्रव्रजित होने की अनुज्ञा दे दें। दोनों भाई पिता को प्रणाम कर काम-भोगों को छोड़, जनता के साथ विनिश्चयशाला से निकले। देवों ने 'मेरे पुत्र के प्रव्रजित होने पर रम्य-नगर शून्य हो जायेगा' कह विलाप करते हुए दो गाथाएँ कहीं—

तुम्हारा भला हो, दौड़ो। रम्यक नगर शून्य हुआ जा रहा है। सब्बदत राजा ने युवञ्जय को प्रव्रजित होने की आज्ञा दे दी। जो कञ्ज-समान युवा हजारों (पुत्रों) में श्रेष्ठ था, वह यह बलवान कुमार काषाय-वस्त्र पहन प्रव्रजित होने जा रहा है।

बोधिसत्व तुरन्त प्रव्रजित नहीं हुआ। वह माता-पिता को प्रणाम कर छोटे भाई युधिष्ठिर कुमार को साथ ले, नगर से निकला। जनता को (पीछे) रोक, दोनों ने हिमालय में प्रविष्ट हो मनोरम-स्थान में आश्रम बना ऋषि-प्रव्रज्या ली। फिर ध्यान-अभिज्ञा प्राप्त कर जीवन भर जंगल के फल-मूल खाते हुए बिता कर ब्रह्मलोक-गामी हुए।

(जातक IV, पृ. नं. 320-324)

## 46. धर्म का जीवित एवं मरने का फल

श्रावस्ती में वह तरुण बड़ा सदाचारी था। पिता की मृत्यु पर उसने माता को ही अपना देवता समझा। वह मुँह धोने के लिए दातुन, नहाने के लिए जल देना और धोना आदि सेवा तथा यवागु-भात आदि देकर माता को पालता था। एक दिन माँ बोली—“तात ! मुझे दूसरे भी घर के काम हैं। अपने समान जाति-कुल की एक कुमारी ग्रहण कर ले। वह मेरी भी सेवा करेगी और तू भी अपना काम कर सकेगा।”

“माँ ! मैं अपने हित-सुख की कामना से तुम्हारी सेवा करता हूँ। दूसरा कौन कर सकेगा ?”

“तात ! कुल-वृद्धि-कर्म करना चाहिये।”

“मुझे गृहस्थी नहीं चाहिए। मैं तुम्हारी सेवा करूँगा। तुम्हारे बाद प्रव्रजित हो जाऊँगा।”

उसकी माता ने बार-बार कहा। जब उसकी इच्छा नहीं हुई तो वह बिना उसकी स्वीकृति के समान जाति-कुल से एक लड़की ले आई। वह माता की ओर से उदासीन

नहीं हुआ और उसके साथ रहने लगा। उसने भी सोचा मेरा स्वामी बड़े उत्साह से माँ की सेवा करता है, मैं भी यदि ऐसे ही करूँगी तो उसकी प्रिया हो जाऊँगी। वह अच्छी तरह माँ की सेवा करती है तो उसे जो-जो मधुर खाद्य भोज्य मिलता वह उसी को ला-ला कर देता। आगे चलकर उसने सोचा, यह जो-जो मधुर भोजन लाता है। मुझे ही देता है, शायद माँ को निकाल देना चाहता है। मैं इसे निकालने का उपाय करूँगी। इस प्रकार अनुचित दङ्ग से विचार कर एक दिन उसने कहा—“स्वामी ! तुम्हारे बाहर चले जाने पर तुम्हारी माता मुझे गाली देती है।” वह चुप रहा। उसने सोचा—इस बुद्धिया को उत्तेजित कर पुत्र के विरुद्ध करूँगी। उस समय से खिचड़ी देने के समय या तो बहुत गर्म देती या बहुत ठंडी, या बहुत नमक होता या एकदम अलूनी। यदि वह कहती कि यह बहुत गर्म है और बहुत नमकीन है तो भरकर ठंडा पानी डाल देती। फिर यदि वह कहती कि बहुत ठंडी है और बहुत अलूनी है, तो चिल्लाने लगती—“अभी तो बहुत गर्म और नमकीन कहती थी। कौन तुझे संतुष्ट कर सकता है ?” नहाने का जल भी बहुत गर्म करके पीठ पर बिखेर देती। यदि वह कहती “अम्म ! मेरी पीठ जलती है” तो फिर भरकर ठंडा पानी उडेल देती। फिर यदि वह कहती कि बहुत ठण्डा है, तो पड़ोसियों को सुनाती—“अभी बहुत गर्म कहकर तुरन्त बहुत ठंडा कहती है, “अम्म ! चारपाई में बहुत पिस्सु है।” तो उसकी चारपाई निकालकर उस पर अपनी चारपाई डाल, पीट कर, फिर ले जाकर बिछा देती—“चारपाई पीट दी।” महा-उपासिका पिस्सुओं के मारे सारी रात बैठी-बैठी बिताती। यदि वह कहती, “अम्म ! सारी रात खटमल खाते रहे” तो वह उत्तर देती—“तेरी चारपाई बहुत पीटी; लेकिन कौन है जो इसके कामों को समाप्त कर सके।” फिर चुप हो-उत्तेजित करने के लिए सारे घर में थूक-सीढ़, बाल आदि फैला देती। वह पूछता—“कौन है जो सारे घर को गन्दा करता है ?” वह उत्तर देती “तेरी माँ है जो ऐसा काम करती है। मना करने पर झगड़ा करती है। मैं ऐसी मनहूस के साथ एक घर में नहीं रह सकती। चाहे इसे घर में रख या मुझे रख।” उसने उसकी बात सुनी तो कहा—“भद्रे ! तू अभी तरुण है। जहाँ कहीं जाकर अपना पालन पोषण कर सकती है। किन्तु मेरी माता बुढ़ापे से दुर्बल है। मैं ही इसका सहारा हूँ। तू निकलकर अपने घर जा।” उसने उसकी बात सुनी तो डरी—“मैं इसे माता से नहीं फोड़ सकती। इसे हर तरह से माता प्रिय है। यदि मैं अपने घर जाऊँगी तो विधवा की तरह रहती हुई दुखी रहूँगी। मैं पहले की तरह सास को प्रसन्न कर उसकी सेवा करूँगी।” वह पूर्ववत् उसकी सेवा करने लगी। एक दिन वह उपासक, धर्म सुनने के लिए जेतवन गया और शास्ता को प्रणाम कर एक ओर बैठा। शास्ता ने पूछा—“उपासक ! पुण्य कर्मों में

प्रमाद तो नहीं होता ? माता की सेवा तो होती है ?”

“भन्ते ! हाँ मेरी माता मेरी अनिच्छा रहते हुए भी एक कुल से लड़की ले आई । उसने यह अनाचार-कर्म किया ।”..... सब शास्ता को बता कर कहा— “वह स्त्री मेरी माता और मुझे फोड़ नहीं सकी । अब वह अच्छी तरह सेवा करती है ।” शास्ता ने उसकी बात सुन कहा— “आयुष्मान् ! अब तो तूने उसका कहना नहीं किया, किन्तु पूर्व-समय में तूने उसके कहने से अपनी माता को निकाल दिया था । फिर मेरे कहने से उसे घर लाकर सेवा की थी ।” इतना कह कर उसके प्रार्थना करने पर शास्ता ने पूर्व जन्म की कथा कही ।

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय एक कुल पुत्र पिता के मरने पर माता को देवता मान कर उक्त प्रकार से ही सेवा करता था... सारी कथा पूर्वोक्त प्रकार से कहनी चाहिये । “मैं इस प्रकार की मनहूस के साथ नहीं रह सकती हूँ, इसे घर में रख या मुझे ।” कहने पर उसकी बात मान और यह समझ कि माँ ही दोषी है उसने माँ से कहा—“अम्मा ! तू घर में नित्य झगड़ा करती है । यहाँ से निकल कर अन्यत्र जहाँ चाहे रह ।”

वह ‘अच्छा’ कह रोती हुई निकल गई और एक मित्र-कुल में मजदूरी कर बड़े कष्ट से दिन काटने लगी । सास के चले जाने पर पतोहू को गर्भ रह गया । वह पति और पड़ौसियों को कहती फिरी—“उस मनहूस के घर में रहते हुए मुझे गर्भ नहीं रहा, चले जाने पर गर्भ रहा ।” आगे चलकर पुत्र होने पर भी वह बोली—“जब तक तुम्हारी माता घर में थी, मुझे पुत्र न हुआ, अब मिला है । इससे भी जान लो कि वह मनहूस है ।”

उसने यह सुनकर कि मुझे निकाल देने पर पुत्र हुआ है, सोचा—“निश्चय से संसार में धर्म मर गया है । यदि धर्म मरा न होता तो माँ को पीट कर निकाल देने वालों को पुत्र न होता, वे सुख से न जीते । मैं धर्म का श्राद्ध करूँगी ।”

एक दिन उसने पिसे-तिल, चावल, हाँडी और कड़छी ली और कच्चे श्मशान में जाकर तीन खोपड़ियों का चूल्हा बनाकर आग जलाई । फिर पानी पर जा, सिर से स्नान कर और मुँह धो, चूल्हे की जगह पर आ, बालों को खोल, तिलों को धोना आरम्भ किया ।

उस समय बोधिसत्व देवेन्द्र शक्र थे । सभी बोधिसत्व अप्रमादी होते हैं । उस समय उसने संसार पर नजर डाली तो देखा कि वह दुःख के कारण धर्म को मरा जान कर, धर्म का श्राद्ध करने जा रही है । उसने सोचा कि आज मैं अपना बल प्रदर्शित

करूँगा । वह ब्राह्मण का वेश बना कर रास्ते चलने वालों की तरह, मानो उसे देखकर रास्ते से हट कर उसके पास गया और पास जाकर बोला “अम्मा ! श्मशान में आहार नहीं पकाया जाता । तू इस पके चावल का क्या करेगी ?” यह पूछते हुए शक्र ने पहली गाथा कही—

हे श्वेतै-वस्त्र, भीगे केश वाली कात्यायनी ! यह क्या हांडी चढ़ा कर पिसे तिल और चावल धोती है ? यह तिलोदन किस के लिए होगा ।

उसने उसे उत्तर देते हुए दूसरी गाथा कही—

ब्राह्मण ! यह तिलोदन भोजन के लिये नहीं हैं, यह अच्छी तरह पके । धर्म मर गया है । मैं आज श्मशान में उसका श्राद्ध करूँगी ।

तब शक्र ने तीसरी गाथा कही—

हे कात्यायनी ! विचारपूर्वक कार्य कर । तुझे किसने कहा कि धर्म मर गया है । मैं अतुल प्रताप वाला हूँ, सहस्र नेत्र हूँ । श्रेष्ठ धर्म कभी नहीं मरता ।

यह सुनकर उसने दो गाथायें कहीं—

हे ब्राह्मण ! मुझे इसमें संदेह नहीं है कि धर्म मर गया है । मेरे पास इसका दृढ़ प्रमाण है । जो-जो इस समय पापी होते हैं, वे ही इस समय सुखी होते हैं । मेरी पतोहू बांझ थी; उसने मुझे पीटा तो उसे पुत्र हो गया । वह ही इस समय सारे कुल में प्रधान हो गई, और मैं अकेली अनाथ हो गई ।

तब शक्र ने छठी गाथा कही—

मैं मरा नहीं । मैं जीता हूँ । मैं तेरे ही लिये यहाँ आया हूँ । तुझे पीठ कर जिसने पुत्र को जन्म दिया है, उसे पुत्र सहित भस्म करता हूँ ।

यह सुन उसने अपने आप को धिक्कारा कि मैं, क्या कह दिया और अपने नाती को जीता रखने के लिए सातवीं गाथा कही—

हे देवराज ! यदि तुझे यह अच्छा लगता है और यदि तू मेरे ही लिए यहाँ आया है, तो मैं यहीं चाहती हूँ कि मेरा पुत्र, मेरा नाती, मेरी पतोहू और मैं सब प्रसन्नतापूर्वक घर में रहें ।

तब शक्र ने आठवीं गाथा कही—

हे कात्यायनी । यदि तुझे यही अच्छा लगता है, और तू पिटने पर भी धर्म नहीं छोड़ती है, तो तेरा पुत्र, तेरा नाती, तेरी पतोहू और तू प्रसन्नतापूर्वक घर में रहें ।

इतना कह शक्र अलङ्कारों से सजकर अपने प्रताप से आकाश में स्थित हुआ और बोला—“कात्यायनी ! तू डर मत । मेरे प्रताप से तेरा पुत्र और तेरी पतोहू, रास्ते में

तुझसे क्षमा माँग, तुझे लेकर घर जायेंगे। तू अप्रमादी रह !” फिर शक्र अपने स्थान को गया। वे भी शक्र के प्रताप से अपनी माता के गुणों को याद कर गाँव में पहुँचे और पूछा—“हमारी माँ कहाँ है ?” कहते हुए श्मशान की ओर दौड़े और उसे देखते ही उसके पैरों पर गिरकर माँ हमारे दोष क्षमा करें। कह क्षमा माँगी। उसने नाती को ले लिया। इस प्रकार वे प्रसन्नचित घर लौटे और उसके बाद मेल से रहने लगे।

(जातक IV - 80 पृ०)

### 47. धर्मवेशी लुटेरे

एक सुनार ने जवाहरात की दुकान खोल रखी थी। देखने में वह बड़ा धर्मात्मा लगता था— माथे पर, तिलक, गले में माला, हाथ में सुमिरनी ! इस लिये लोग विश्वास करते कि वह धोखा नहीं दे सकता ! लेकिन जब कभी ग्राहक उसकी दुकान पर आते तो उसकी सहायक - मण्डली में से एक कहता— ‘केशव ! केशव !’ कुछ देर में दूसरा कहता— ‘गोपाल ! गोपाल !’ तब तीसरा, बोलता— ‘हरि ! हरि !’ अन्त में एक कहता ‘हर । हर ।’ ईश्वर के इन नामों का उच्चार होते देख ग्राहकों का उसकी प्रामाणिकता पर विश्वास और भी दृढ़ हो जाता। लेकिन ईश्वर के ये नाम उस धूर्त सुनार-द्वारा सांकेतिक शब्दों (Codewards) के तौर पर इस्तोमाल किये जाते थे। जो आदमी ‘केशव, केशव’ कहता उसका तात्पर्य यह पूछने का था कि ‘ये ग्राहक कैसे है ?’ जो ‘गोपाल, गोपाल’ कहता वह जतलाता कि ‘ये लोग बिल्कुल बैल हैं।’ यह अनुमान वह उनसे थोड़ी देर की बात चीत में ही लगा लेता था। ‘हरि, हरि’ कहने वाहा पूछता— ‘तो क्या हम इन्हें लूटे ? इसका जबाब ‘हर, हर’ कहने वाला देता— ‘इन बैलों को जरूर लूट लो।’

(सन्त विनोद पृ०- 32)

### 48. बड़ी मार पड़ेगी

एक सेठ जी अपने विशाल हवेली की आकाशी पर बैठे हुए फल-फलादि खा रहे थे और छिलके नीचे फेकते जाते थे। वहाँ से निकलता हुआ एक पागल-सा आदमी छिलकों को खाने लगा। यह देखकर सेठ के नौकरों ने उसे डपटकर चले जाने को कहा। मगर पागल ने उसे गनकारा नहीं, इसलिए नौकरों ने उसे मारना शुरू कर दिया। मगर ज्यादा मार पड़ती गयी उतनी ही बुलन्द आवाज से वह हँसता गया।

इतने में सेठ जी की नजर उस पर पड़ी। देख कर सख्त ताज्जुब हुआ। बुलाया और उससे हँसने का कारण पूछा। वह बोला—‘सेठ जी ! इसमें ताज्जुब करने की कोई बात नहीं। मैं यह हँस रहा था कि छिलके खाने वाले पर इतनी मार पड़ती है तो गुदा खाने वालों पर कितनी मार पड़ेगी।’

सेठ जी यह जबाब सुनकर सन्न रह गये और उस पागल व्यक्ति से क्षमा माँगने लगे।

(संत विनोद पृ०-37)

### 49. भक्त राँका - बाँका

भक्त राँका कंगाल और बे-पढ़े होने पर भी तीव्र वैरागी थे। राँका जी बड़े रंक थे, इसी से शायद उनका नाम राँका पड़ गया था। उनकी स्त्री का नाम बाँका था। वे बड़ी साहसी, पतिव्रता और भक्ति परायण थीं। वैराग्य में तो वे राँका जी से बढ़कर थीं।

दोनों जंगल से सूखी लकड़ियाँ बीन कर लाते और उन्हें बेचकर जो कुछ भी मिलता उससे भगवान, का भोग लगाकर प्रसाद पाते।

राँका जी की स्त्री-समेत दुःख भोगते देखकर सिद्ध भक्त नामदेव जी को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि राँका जी को धन मिले नामदेव जी को उत्तर मिला कि राँका कुछ भी लेना नहीं चाहता; तुम्हें देखना है तो कल सुबह वन के रास्ते पर छिपकर देखना।

दूसरे दिन राँका ने जंगल के रास्ते पर मुहरों से भरी थैली जो देखी तो उसपर धूल डालने लगे। उतने में स्त्री भी आ गयी। उसने पूछा, ‘किस चीज को धूल से ढंक रहे हो ?’ राँका ने कहा—‘यहाँ एक मुहरों की थैली पड़ी है; मैंने सोचा कि तुम पीछे आ रही हो, कहीं मुहरों के लिये लोभ पैदा हो गया तो साधना विघ्न होगा, इसीलिए उसे धूल से ढंक रहा था।’

परम वैराग्यवती स्त्री इस बात को सुनकर बोली— ‘सोने और धूल में फर्क ही क्या है ? आप धूल से धूल को क्या ढंक रहे हैं ?’ ऐसे बाँके वैराग्य के कारण ही उसका नाम ‘बाँका’ पड़ा था। नामदेव जी राँका-बाँका के वैराग्य को देखकर अपने को भी तुच्छ मानने लगे।

भक्त-वत्सल भगवान् ने उस दिन राँका-बाँका के लिये जंगल की सारी सूखी लकड़ियों के बोझ बाँधकर रख दिये। राँका-बाँका ने समझा कि किसी और के होंगे।

परायी चीज छूना पाप समझ कर उन्होंने उस तरफ ताका तक नहीं, और सूखी लकड़ियाँ न मिलने से दोनों खाली हाथ वापस आ गये। उस दिन दोनों को उपवास करना पड़ा। वे सोचने लगे कि यह तो मुहरेँ आँख से देखने का फल है, हाथ लगाने पर तो न मालूम क्या होता।  
(संत विनोद पृ०—46)

## 50. सत्य का प्रभाव

हजरत गौसुल एक बड़े साधु थे। उन्हें बचपन से विद्या का शौक था उन दिनों बगदाद शहर विद्याओं और कलाओं का बड़ा केन्द्र था। गौसुल ने विद्याभ्यास के लिये बगदाद जाने की अपनी माँ से आज्ञा माँगी। माता ने अपने पुत्र का विद्या-प्रेम देखकर खुशी से इजाजत दे दी और चालीस अशर्फियाँ लड़के के कुरते में बगल के नीचे होशियारी से सी दीं, जिससे जरूरत के वक्त काम आवें। चलते वक्त माँ ने उपदेश दिया—‘बेटा जा, तुझे ईश्वर को सौंपा। देख, सदा सच बोलना और ईश्वर को कभी मत भूलना।’

हजरत गौसुल एक काफिले के साथ हो लिये रास्ते में डाकुओं के एक गिरोहने काफिले को लूट लिया। एक डाकू उनके पास आकर बोला—‘ओ लड़के तेरे पास कुछ है कि नहीं? बता!’ इन्होंने जबाब दिया—‘मेरे पास चालीस अशर्फियाँ हैं।’ डाकू ने पूछा—‘कहाँ है?’ जबाब मिला—‘कुरते में बगल के नीचे सिली हुई हैं।’

डाकू इसे मजाक समझ कर चल दिया। थोड़ी देर में दूसरा डाकू आया। उसे भी वही जबाब मिला। डाकू उन्हें अपने सरदार के पास ले गया, और सारा हाल कह सुनाया। सरदार ने कहा—‘अच्छ, इसकी अशर्फियाँ निकालो।’ बतायी हुई जगह से ठीक चालीस चमकती हुई अशर्फियाँ निकलीं।

सरदार हैरत में आकर बोला—‘लड़के, तू अजब तरह का आदमी है। तूने चोरों को भी अपना माल बता दिया।’

हजरत ने सिर झुकाकर कहा—‘मेरी माँ ने चलते वक्त मुझे नसीहत दी थी कि सदा सच बोलना और ईश्वर को कभी मत भूलना। मैंने अपनी, माता की आज्ञानुसार काम किया है, और कुछ नहीं।’

डाकुओं के सरदार के मन पर बड़ा असर पड़ा। वह बड़ा पछताया। उसने सारा माल वापस कर दिया, और लूटमार छोड़ कर भले रास्ते लगा।

(संत विनोद पृ०—47)

## 51. भजन का अधिकार

एक युवक विरक्त होकर एक संत के पास पहुँचा। भगवद्-भजन की प्रबल इच्छा थी।

सन्त ने कहा—‘तुम स्नान करके शुद्ध होकर आओ।’

युवक स्नान करने गया, और सन्त ने आश्रम के पास झाड़ू देती हुई भंगिन को बुलाकर वे बोले—‘यह युवक जब स्नान करके लौटे तब तुम इस तरह झाड़ू लगाना कि उस पर धूल उड़कर आये। लेकिन जरा सावधान रहना वह मारने दौड़ सकता है।’

जब युवक लौटा तो भंगिन जान बूझकर जोर से झाड़ू लगाने लगी। धूल उड़कर युवक पर आने लगी। उसने गुस्से में आकर पत्थर उठाया और भंगिन को मारने झपटा। भंगिन असावधान नहीं थी। झाड़ू फेंककर दूर भाग गयी। युवक जो मुँह में आया बकता रहा।

दुबारा स्नान करके वह महात्मा के पास आया। सन्त ने उससे कहा—‘तुम तो पशु की तरह मारने दौड़ते हो। अभी तुम भजन के लायक नहीं। एक वर्ष बाद आना। एक वर्ष तक नाम जप करते रहो।’

वर्ष पूरा करके युवक फिर सन्त के सामने हाजिर हुआ। साधु ने उससे फिर स्नान कर आने के लिये कहा। और उधर भंगिन से बुलाकर कहा कि ‘इस बार इसके लौटने पर इस तरह झाड़ू देना कि झाड़ू इससे छू जाये। डरना मत। मारोगा नहीं। कुछ कहे तो चुपचाप सुन लेना।’

भंगिन ने आज्ञा का पालन किया। युवक को गुस्सा तो बहुत आया, मगर सिर्फ कुछ कठोर वचन कहकर फिर स्नान करने चला गया।

जब वह सन्त के पास पहुँचा तो वे बोले—‘अभी तुम भूँकते हो। एक वर्ष और नाम-तप करो तब आना।’

एक वर्ष और बिताकर युवक सन्त के पास आया पहले की तरह फिर स्नान करके आने की आज्ञा मिली। और भंगिन को आदेश दिया कि ‘इस बार कूड़े की टोकरी उलट देना उस पर।’

भंगिन कूड़ा डालने पर युवक शान्त रहा बल्कि भंगिन के सामने जमीन पर मस्तक टेककर हाथ जोड़कर बोला—‘देवी! तुम मेरी गुरु हो। तुम्हारी ही कृपा से मैं अहंकार और क्रोध को जीत सका।’

दुबारा स्नान करके जब युवक सन्त के पास पहुँचा तो उन्होंने उसे हृदय से लगा लिया। बोले—‘तुम अब भजन के अधिकारी हुए।’ (सन्त विनोद पृ०—71)

## 52. “गर्व को कृतार्थ किया”

भारत वर्ष के दशार्णपुर का राजा दशार्ण भद्र था। वह जिनोत्तक धर्म में अनुरक्त था। एक बार नगर के बाहर उद्यान में तीर्थंकर भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ, सुनकर दशार्णभद्र राजा के मन में विचार आया आज तक भगवान् को किसी ने वन्दन न किया हों, उस प्रकार से समस्त वैभव सहित मैं प्रभु को वन्दन करने जाऊँ ! तदनुसार घोषणा करवाकर उसने सारे नगर को दुलहिन की तरह सजाया। जगह-जगह मणिक्य के तोरण बंधवाए, नट लोग अपनी कलाओं का प्रदर्शन करने लगे। राजा ने स्नान करके उत्तम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर उत्तम हाथी पर आरूढ़ होकर प्रभु-वन्दन के लिए प्रस्थान किया। मस्तक पर छत्र धारण किया और चामर दुलाते हुए सेवकगण जय-जयकार करने लगे। सामन्त राजा तथा अन्य राजा, राजपुरुष और चतुरंगिणी सेना तथा नागरिकगण सुसज्जित होकर पीछे-पीछे चल रहे थे। राजा दशार्णभद्र साक्षात् इन्द्र सा लग रहा था।

राजा के वैभव के इस गर्व को अवधिज्ञान से जान कर इन्द्र ने विचार किया— प्रभुभक्ति में ऐसा गर्व उचित नहीं है। अतः इन्द्र ने ऐरावण देव को आदेश देकर कैलाशपर्वतसम उत्तुंग 64 हजार सुसज्जित शृंगारित हाथियों और देव-देवियों की विकुर्वणा की। अब इन्द्र की शोभायात्रा के आगे दशार्णभद्र की शोभायात्रा एकदम फीकी लगने लगी। यह देखकर दशार्णभद्र राजा के मन में अंतः प्रेरणा हुई कहाँ इन्द्र का वैभव और कहाँ मेरा तुच्छ वैभव। इन्द्र ने यह लोकोत्तर वैभव धर्मअराधना (पुण्य प्रभाव) से ही प्राप्त किया है; अतः मुझे भी शुद्ध धर्म की पूर्ण आराधना करनी चाहिए, जिससे मेरा गर्व भी कृतार्थ हो। यो संसार से विरक्त दशार्णभद्र राजा ने प्रभु महावीर से दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। अपने हाथ से केशलोच किया। विश्ववत्सल प्रभु ने राजा को स्वयं दीक्षा दी। इन्द्र ने दशार्णभद्र राजर्षि को इतनी विशाल ऋद्धि एवं साम्राज्य का सहसा त्याग कर तथा महाव्रत ग्रहण करके अपनी प्रतिज्ञा पालन करने के हेतु धन्यवाद दिया— वैभव में हमारी दिव्य शक्ति आप से बढ़कर है; परन्तु त्याग एवं व्रत ग्रहण करने की शक्ति मुझमें नहीं है, राजर्षि उग्रतपश्चर्या से सर्व कर्म क्षय करके मोक्ष पहुँचे।

(उत्तराध्ययन पृ०—294)

## 53. ‘शिकारी से श्रमण’

काम्पिलय नगर में सेना और वाहन से सुसंपन्न ‘संजय’ नाम का राजा था। एक दिन वह मृगण्या- अर्थात् मृगया-शिकार के लिए निकला।

वह राजा सब ओर से विशाल अश्वसेना, गजसेना, रथसेना तथा पदति सेना से परिवृत था।

राजा अश्व पर आरूढ़ था। वह रस-मूर्च्छित होकर काम्पिलय नगर के केसर उद्यान की ओर ढकेले गए भयभीत एवं श्रान्त हिरणों को मार रहा था।

उस केशर उद्यान में एक तपोधन अनगर स्वाध्याय एवं ध्यान में लीन थे, धर्मध्यान की एकाग्रता साध रहे थे।

आश्रव का-कर्मबंध के रागादि हेतुओं का क्षय करने वाले अनगर अप्फोवमण्डव-लतामण्डप में ध्यान कर रहे थे। उनके समीप आए हिरणों का राजा ने वध कर दिया।

अश्वारूढ़ राजा शीघ्र वहाँ आया, जहाँ मुनि ध्यानस्थ थे। मृत हिरणों को देखने के बाद उसने वहाँ एक ओर अनगर को भी देखा।

राजा मुनि को देखकर सहसा भयभीत हो गया। उसने सोचा—‘मैं कितना मन्दपुण्य-भाग्यहीन, रसासक्त, एवं हिंसक वृत्ति का हूँ कि मैंने व्यर्थ ही मुनि को आहत किया है।’

घोड़े को छोड़कर उस राजा ने विनय पूर्वक अनगर के चरणों को वन्दन किया और कहा कि—‘भगवान ! इस अपराध के लिए मुझे क्षमा करें।’

वे अनगर भगवान् मौनपूर्वक ध्यान में लीन थे। उन्होंने राजा को कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया, अतः राजा और अधिक भयद्रुत-भयाक्रान्त हुआ।

राजा—‘भगवान ! मैं संजय हूँ। आप मुझ से कुछ तो बोलें। मैं जानता हूँ—क्रुद्ध अनगर अपने तेज से करोड़ों मनुष्यों को जला डालते हैं।’

अभओ पत्थिवा ! तुब्भं अभयदाया भवाहिय।

अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाए पसज्जसि ? ॥ 11 ॥

अनगर — ‘पार्थिव ! तुझे अभय है। पर, तू भी अभयदाता बन इस अनित्य जीव लोक में तू क्यों हिंसा में संलग्न है?’

जया सखं परिच्वज्ज गन्तव्वमवसस्स ते ।

अणिच्चे जीवलोगम्मि किं रज्जम्मि पसज्जसि ? ॥ 12 ॥

“सब कुछ छोड़कर जब तुझे यहाँ से अवश्य लाचार होकर चले जाना है, तो इस अनित्य जीवलोक में तू क्यों राज्य में आसक्त हो रहा है ?”

जीवियं चेव रूवं च विज्जुसंपाथ-चंचल ।

जत्थ तं मुज्झसी रायं ! पेच्चत्थं नाव बुज्झसे ॥ 13 ॥

“राजन ! तू जिसमें मोह मुग्ध है, वह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक की तरह चंचल है । तू अपने परलोक के हित को नहीं समझ रहा है ।

दारणि च सुया चेव मिता य तह बन्धवा ।

जीवनतमणु जीवन्ति मयं नाणुव्वयन्ति य ॥ 14 ॥

स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र तथा बन्धुजन जीवित व्यक्ति के साथ ही जीते हैं । कोई भी मृत व्यक्ति के पीछे नहीं जाता-अर्थात् मरे के साथ कोई नहीं मरता है ।”

नीहरन्ति मयं पुत्ता पियरं परमदुक्खिया ।

पियरो तहा पुत्ते बधू रायं ! तवं चरे ॥ 15 ॥

“अत्यन्त दुःख के साथ पुत्र अपने मृत पिता को घर से बाहर श्मशान में निकाल देते हैं । उसी प्रकार पुत्र को पिता और बंधु को अन्य बंधु भी बाहर निकालते हैं । अतः राजन् ! तू तप का आचरण कर ।”

तओ तेणऽज्जिए दव्वे दारे य परिरिक्खिए ।

कीलन्तऽन्ने नरा रायं ! हट्टु तुट्टु मलंकिया ॥ 16 ॥

मृत्यु के बाद उस मृत व्यक्ति के द्वारा अर्जित धन तथा सुरक्षित स्त्रियों का हृष्ट, पुष्ट एवं अलंकृत होकर अन्य लोग उपभोग करते हैं ।”

तेणावि जं कयं कम्मं सुहं वा जइवा दुहं ।

कम्मुणा तेण संजुत्तो गच्छाई उ परं भवं ॥ 17 ॥

“जो सुख अथवा दुःख के कर्म जिस व्यक्ति ने किए हैं वह अपने उन कर्मों के साथ परभव में जाता है ।”

अनगार के पास से महान् धर्म को सुनकर, राजा मोक्ष का अभिलाषी और संसार से विमुख हो गया ।

राज्य को छोड़कर वह संजय राजा भगवान् गर्दभालि अनगार के समीप जिन शासन में दीक्षित हो गया ।

(उतराध्ययन सूत्र, पृ० 173-176)

## 54. अर्जुन का दृढ़ ब्रह्मचर्य

पवित्र मुस्कान वाली उर्वशी ने अर्जुन से मिलने के लिए उत्सुक हो स्नान किया । धनजय के रूप-सौन्दर्य प्रभावित उसका हृदय कामदेव के बाणों द्वारा अत्यन्त घायल हो चुका था । वह मदनाग्नि से दग्ध हो रही थी । स्नान के पश्चात् उसने चमकीले और मनोभिराम आभूषण धारण किये । सुगन्धित दिव्य पुष्पों के हारों से अपने को अलंकृत किया । फिर उसने मन-ही-मन संकल्प किया-दिव्य बिछौनों से सजी हुई एक सुन्दर विशाल शय्या बिछी हुई है । उसका हृदय सुन्दर तथा प्रियतम के चिन्तन में एकाग्र था । उसने मन की भावना द्वारा ही यह देखा कि कुन्ती कुमार अर्जुन उसके पास आ गये हैं । वह उनके साथ रमणकर कर रही है ।

संध्या चन्द्रोदय होने पर जब चारों ओर चाँदनी छिटक गयी, उस समय वह विशाल नितम्बों वाली अप्सरा अपने भवन से निकलकर अर्जुन के निवास स्थान की ओर चली । उसके कोमल, धुंधराले और लम्बे केशों का समूह वेणी के रूप में आबद्ध था । उनमें कुमुद पुष्पों के गुच्छे लगे हुए हैं । इस प्रकार सुशोभित वह ललना अर्जुन के गृह की ओर बढ़ी जा रही थी ।

मन और वायु के समान तीव्र वेग से चलने वाली वह पवित्र मुस्कान से सुशोभित अप्सरा क्षण भर में पाण्डुकुमार अर्जुन महल में जा पहुँची । नरश्रेष्ठ जन मे जय । महल के द्वार पर पहुँचकर वह ठहर गयी । उस समय द्वारपालों ने अर्जुन को उसके आगमन की सूचना दी । तब सुन्दर नेत्रों वाली उर्वशी रात्रि में अर्जुन के अत्यन्त मनोहर तथा उज्ज्वल भवन में उपस्थित हुई । राजन ! अर्जुन सशङ्क हृदय से उसके सामने गये । उर्वशी आयी देख अर्जुन के नेत्र लज्जा से मुँद गये । उस समय उन्होंने उसके चरणों में प्रणाम करके उसका गुरुजनूचित सत्कार किया । अर्जुन बोले-देवि ! श्रेष्ठ अप्सराओं में भी तुम्हारा सबसे ऊँचा स्थान है । मैं तुम्हारे चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ । बताओ, मेरे लिए क्या आज्ञा है । मैं तुम्हारा सेवक हूँ । और तुम्हारी आज्ञा का पालन करने के लिये उपस्थित हूँ । अर्जुन की यह बात सुनकर उर्वशी के होश हवास गुम हो गये । उस समय उसने गन्धर्वराज चित्र सेन की कही हुई सारी बातें सुनाई उर्वशी ने कहा—पुरुषोत्तम । चित्रसेन ने मुझे जैसा संदेश दिया है ।

और उसके अनुसार जिस उद्देश्य को लेकर मैं यहाँ आयी हूँ, वह सब मैं तुम्हें बता रही हूँ। देवराज इन्द्र के इस मनोरम निवासस्थान में तुम्हारे शुभागमन के उपलक्ष्य में एक महान् उत्सव मनाया गया। यह उत्सव स्वर्गलोक का सबसे बड़ा उत्सव है। उसमें रुद्र, आदित्य, अश्विनी कुमार और वसुगण-इन सबका सब ओर से समागम हुआ था। नरश्रेष्ठ। महर्षिसमुदाय, राजर्षिप्रवर, सिद्ध, चारण, यक्ष तथा बड़े-बड़े नाग-ये सभी अपने पद सम्मान, और प्रभाव के अनुसार योग्य आसनों पर बैठे थे। इन सबके शरीर अग्नि, चन्द्रमा, और सूर्य के समान तेजस्वी थे और ये समस्त देवता अपनी अद्भुत समृद्धि से प्रकाशित हो रहे थे। विशाल नेत्रों वाली इन्द्र कुमार ! उस समय गन्धर्वों द्वारा अनेक वीणाएँ बजायी जा रही थी। दिव्य मनोरम संगीत छिड़ा हुआ था। और सभी प्रमुख अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं। कुरुकुलनन्दन पार्थ ! उस समय तुम मेरी ओर निर्निमेष नयनों से निहार रहे थे।

देवसभा में उस महोत्सव की समाप्ति हुई, तब तुम्हारे पिता की आज्ञा लेकर सब देवता अपने-अपने भवन को चले गये। शत्रुदमन ! इसी प्रकार आपके पिता से विदा लेकर सभी प्रमुख अप्सराएँ तथा दूसरी साधारण अप्सराएँ भी अपने-अपने घर को चली गयी। कमलनयन ! तदनन्तर देवराज इन्द्र का संदेश लेकर गन्धर्वप्रवर चित्रसेन मेरे पास आये और इस प्रकार बोले। 'वरवर्णिनि ! देवेश्वर इन्द्र ने तुम्हारे लिये एक संदेश देकर मुझे भेजा है। तुम उसे सुनकर महेन्द्र का, मेरा तथा मुझ से अपना भी प्रिय कार्य करो। 'सुश्रीणि ! जो संग्राम में इन्द्र के समान पराक्रमी और उदारता आदि गुणों से सदा सम्पन्न हैं, उन कुन्तीनन्दन अर्जुन की सेवा तुम स्वीकार करो। इस प्रकार चित्रसेन ने मुझसे कहा था। अनघ ! शत्रु-दमन। तदनन्तर चित्रसेन और तुम्हारे पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके मैं तुम्हारी सेवा के लिए तुम्हारे पास आयी हूँ। तुम्हारे गुणों ने मेरे चित्त को अपनी ओर खींच लिया है। मैं काम देव के वंश में हो गयी हूँ। वीर ! मेरे हृदय में भी चिरकाल से यह मनोरथ चला आ रहा था। जन मे जय ! स्वर्गलोक में उर्वशी की यह बात सुनकर अत्यन्त लज्जा से गड़ गये और हाथों से दोनों कान मूँदकर बोले। 'सौभाग्यशालिनी ! भाविनी ! तुम जैसी बात कह रही हो, उसे सुनना भी मेरे लिये बड़े दुख की बात है। वरानने। निश्चय ही तुम मेरी दृष्टि में गुरुपत्नियों के समान पूजनीय हो। 'कल्याणि। मेरे लिये जैसी महाभाग कुन्ती और इन्द्राणी शची हैं। वैसी ही तुम भी हो। इस विषय में कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। 'शुभे ! पवित्र मुस्कान वाली उर्वशी। मैंने जो उस समय सभा में तुम्हारी ओर एकटक दृष्टि से देखा था। उसका एक विशेष कारण था। उसे सत्य बताता हूँ सुनो ! यह आनन्दमयी उर्वशी ही पूरुवंश की जननी है, ऐसी समझकर मेरे नेत्र खिल उठे और इस पूज्य भाव

को लेकर ही मैंने तुम्हें वहाँ देखा था। कल्याणमयी अप्सरा ! तुम मेरे विषय कोई अन्यथा भाव मन में न लाओ। तुम मेरे वंश की वृद्धि करने वाली हो, अतः गुरु से भी अधिक गौरवशाली हो ! उर्वशी ने कहा—'वीर देवराज नन्दन ! हम सब अप्सराएँ स्वर्गवासियों के लिए अनावृत्त हैं—हमारा किसी के साथ कोई पर्दा नहीं है। अतः तुम मुझे गुरुजन के स्थान पर नियुक्त न करो।'

पूरुवंश कितने ही पोते-नाती तपस्या करके यहाँ आते हैं। और वे हम सब अप्सराओं के साथ रमण करते हैं। इसमें उनका कोई अपराध नहीं समझा जाता। मानद ! मुझ पर प्रसन्न होओ। मैं कामवेदना से पीड़ित हूँ। मेरा त्याग न करो। मैं तुम्हारी भक्त हूँ। और मदनान्निग्ध हो रही हूँ। अतः मुझे अङ्गीकार करौ। अर्जुन ने कहा— वरारोहे ! अनिन्दिते ! मैं तुम से जो कुछ कहता हूँ मेरे उस सत्य वचन को सुनो। ये दिशा विदिशा तथा उनकी अधिष्ठात्री देवियाँ भी सुन लें। अनघे ! मेरी दृष्टि में कुन्ती, माद्री और शची का जो स्थान है, वही तुम्हारा भी है। तुम पुरुवंश की जननी होने के कारण आज मेरे लिये परम गुरु स्वरूप हो। हे माता ! मैं तुम्हारे चरणों में मस्तक रखकर तुम्हारी शरण में आया हूँ। तुम लौट जाओ। मेरी दृष्टि में तुम माता के समान पूजनीया हो। और तुम्हें पुत्र के समान मानकर मेरी रक्षा करनी चाहिए। जनमेजय ! कुन्ती कुमार अर्जुन के ऐसा कहने पर उर्वशी क्रोध से व्याकुल हो उठी। उसका शरीर काँपने लगा और भौंहेँ टेढ़ी हो गई। उसने अर्जुन को शाप देते हुए कहा। उर्वशी बोली—अर्जुन ! तुम्हारे पिता इन्द्र के कहने से मैं स्वयं तुम्हारे घर पर आयी और काम बाण से घायल हो रही हूँ। फिर भी तुम मेरा आदर नहीं करते। अतः तुम्हें स्त्रियों के बीच में सम्मानरहित होकर नर्तक बनकर रहना पड़ेगा। तुम नपुंसक कहलाओगे और तुम्हारा सारा आचार-व्यवहार हिजड़ों के ही समान होगा। फड़कते हुए ओठों से इस प्रकार शाप देकर उर्वशी लंबी साँसें खींचती हुई पुनः शीघ्र ही अपने घर को लौट गयी।

तदनन्तर शत्रुदमन पाण्डु कुमार अर्जुन बड़ी उतावली के साथ चित्रसेन के समीप गये तथा रात में उर्वशी के साथ जो घटना जिस प्रकार घटित हुई, वह सब उन्होंने उस समय चित्रसेन को ज्यों का त्यों कह सुनायी। साथ ही उसके शाप देने की बात भी उन्होंने बार-बार दोहरायी। चित्रसेन भी सारी घटना देवराज इन्द्र से निवेदन की। तब इन्द्र अपने पुत्र अर्जुन को बुलाकर एकान्त में कल्याणमय वचनों द्वारा सान्त्वना देते हुए मुस्कराकर उनसे कहा—'तात ! तुम सत्पुरुषों के शिरोमणि हो, तुम-जैसे पुत्र को पाकर कुन्ती वास्तव में श्रेष्ठ पुत्रवाली है। 'महाबाहो ! तुमने अपने धैर्य (इन्द्रिसंयम) के द्वारा ऋषियों को भी पराजित कर दिया है। मानद ! उर्वशी ने जो तुम्हें शाप दिया है, वह

तुम्हारे अभीष्ट अर्थ का साधक होगा। अनध ! तुम्हें भूतल पर तेरहवें वर्ष में अज्ञातवास करना है। वीर ! उर्वशी के दिये हुए शाप को तुम उसी वर्ष में पूर्ण कर दोगे।

‘नर्तक वेष और नपुंसक भाव से एक वर्ष तक इच्छानुसार विचरण करके तुम फिर अपना पुरुषत्व प्राप्त कर लोगे। इन्द्र के ऐसा कहने पर शत्रु वीरों का संहार करने वाले अर्जुन को बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर तो उन्हें शाप की चिन्ता छूट गयी।

(महाभारत भाग - II पृ० नं० 1077)

(श्री मन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत)

## 55. विरक्ति

भरतेश्वर के कुमार साहित्यसागर में गोले लगा रहे थे। इतने में एक नवीन समाचार आया। हस्तिनापुर के अधिपति मेघेश्वर ने ‘समवसरण में पहुँचकर जिनदीक्षा ली है। इस समाचार के पहुँचते ही वहाँ पर सन्नाटा छा गया। लोग एकदम स्तब्ध हुए। यह कैसा ? वह कैसा ? एकदम ऐसा क्यों हुआ, इत्यादि चर्चायें होने लगीं। जाते समय राज्य को किसके हाथ में सौपा ? क्या अपने सहोदरों को राज्यप्रदान किया था अपने पुत्र को राज्य का अधिपति बनाया ? इतने में मालूम हुआ कि उन्होंने जाते समय अपने से छोटे भाई विजयराज को बुलाकर कहा कि भाई ! अब तुम राज्य का पालन करो। तब विजयराज ने उत्तर दिया कि भाई तुमको छोड़ कर मैं राज्य का पालन करूँ ? मेरे लिए धिक्कार हो। इसलिए मैं तुम्हारे साथ ही आता हूँ। तदनंतर उसके छोटे भाई जयंतराज को बुलाकर कहा गया कि तुम राज्य का पालन करो। तब जयंतराज ने कहा कि भाई ! जिस राज्य को संसारवर्धक समझकर तुमने परित्याग किया है वह राज्य मेरे लिए क्या कल्याणकारी है ? तुम्हारे लिए जो चीज खराब है, वह मेरे लिए अच्छी कैसे हो सकती है ? इसलिए तुम्हारा जो मार्ग है वही मेरा मार्ग है। मैं भी तुम्हारे साथ ही आता हूँ।

जब जयकुमार अपने भाइयों को राज्यपालन के लिए मना नहीं सका तो उसने अपने पुत्र अनंतवीर्य को राज्यप्रदान कर पट्टाभिषेक किया। और अपने सहोदरों को साथ दीक्षा ली। जयकुमार का पुत्र अनंतवीर्य निराबालक है। छः वर्ष का बालक है। इसलिए नियमपूर्ति के लिए पट्टाभिषेक कर मंत्रियों के अधीन राज्य को बनाया

उनको योग्य मार्गदर्शन कर स्वतः निश्चित होकर दीक्षा को लिए चला गया। अनंतवीर्य बालक था। इसलिए उसे सब व्यवस्था कर जाना पड़ा। यदि वह योग्य वयस्क होता तो यह अविलंब चला जाता। अस्तु

इस समाचार के सुनते ही उन सबको बहुत आश्चर्य हुआ। सबने नाक पर उंगली दबाकर “जिन ! जिन ! वे सचमुच में धन्य हैं ! उनका जीवन सफल है।” कहने लगे। और उन सबने उनको परोक्ष नमस्कार किया।

उन सबमें ज्येष्ठ कुमार रविकीर्तिराज है। उन्होंने कहा कि बिल्कुल ठीक है। बुद्धिमत्ता, विवेक व ज्ञान का फल तो मोक्ष कार्य में उद्योग करना है। आत्मकार्य का साधन करना यही सम्यग्ज्ञान का प्रयोजन है।

आत्मतत्व को पीने के लिए ज्ञान की जरूरत है। परमात्मा का ज्ञान होने पर भी उस पर श्रद्धा की आवश्यकता है। श्रद्धा व ज्ञान के होने पर भी काम नहीं चलता। श्रद्धा व ज्ञान के होने पर भी संयम पालने के लिए जो लोग अपने सर्वसंग का परित्याग करते हैं वे धन्य हैं।

मेघेश्वर ने खूब संसार सुख का अनुभव किया। राज्यभोग को भोग लिया। अनेक वैभवों को अनुभव किया। ऐसी परिस्थिति से इसे हेय समझकर त्याग किया तो युक्त ही हुआ। परन्तु उनके सहोदर विजय व जयंतराज ने (राज्यभोग को न भोगकर) इस राज्य लक्ष्मी को मेघमाला समझकर परित्याग किया यह बड़ी बात है। आश्चर्य है।

अपनी यौवनावस्था व शक्ति को शरीर सुख के लिए न बिगाड़ कर बहुत संतोष के साथ आत्मसुख के लिए प्रयत्न करने वाले एवं इस शरीर को तपश्चर्या में उपयोग करने वाले वे सचमुच में महाराज हैं। धन्य हैं। यद्यपि हम सब चक्रवर्ति के पुत्र हैं, तथापि हम चक्रवर्ति नहीं हैं। परन्तु वे तीनों भाई चक्रवर्ति के लिए भी वंघ बन गये हैं। इसलिए वे सुज्ञानचक्रवर्ति धन्य हैं। आज तक वे हमारे पिताजी के आधीन होकर उनके चरणों में विनय से नमस्कार करते थे। और राज्यपालन करते थे। परन्तु आज हमारे पिताजी भी उनके चरणों में नमस्कार करते हैं। सचमुच में जिनदीक्षा का महत्व अवर्णनीय है।

परब्रह्म स्वरूप को धारण करने वाले योगियों को हमारे पिताजी नमस्कार करें इसमें बड़ी बात क्या है ? जिस प्रकार भ्रमर जाकर सुगंधित पुष्पों की ओर झुक जाते हैं, उसी प्रकार उनके चरणों में तीन लोक ही झुक जाता है।

सुजयात्म ! सुनो। सुकांतात्मक ! अरिविजयात्म ! आदि सभी प्रकार अच्छी तरह सुनो ! दीक्षा के बराबरी करने वाला लाभ दुनिया में दूसरा कोई नहीं है।

शुक्लध्यान के लिए वह जिनदीक्षा सहकारी है, शुक्लध्यान मुक्ति को न जाकर संसार में परिभ्रमण करने वाले सचमुच में अविवेकी है। इस प्रकार बहुत खूबी के साथ जिनदीक्षा का वर्णन रविकीर्तिराज ने किया।

इस कथन को सुनकर वहाँ उपस्थित सर्व कुमारों ने उसका समर्थन किया। एवं बहुत हर्ष व्यक्त करते हुए अपने मन में दीक्षा लेने का विचार करने लगे। उन्होंने विचार किया कि जवानी उतरने के पहले, शरीर की सामर्थ्य घटने के पहले एवं स्त्री-पुत्र आदि की छाया पड़ने के पहले ही जागृत होना चाहिए। अब हम लोग वयस्क हुए हैं, यह जानकर पिताजी हमारे साथ एक-एक कन्याओं का संबंध करेंगे। स्त्रियों के पाश में पड़ने का जीवन मक्खी का तेल के अंदर पड़ने के समान है।

स्त्री के ग्रहण करने के बाद सुवर्ण को ग्रहण करना चाहिए। सुवर्ण के ग्रहण करने के बाद जमीन जायदाद को ग्रहण करना चाहिए, स्त्री, सुवर्ण व जमीन को ग्रहण करने वाले सज्जन जंग चढे हुए लोहे के समान होते हैं। वस्तुतः उन तीनों पदार्थों के कारण से यह मनुष्य संसार में निरूपयोगी बनता है। और इसी कारण से मोह की वृद्धि होकर उसे दीर्घ संसारी बनना पड़ता है। सबसे पहले अपनी इंद्रियों के तृप्ति के लिए उसे, कन्या के बंधन में पड़ना पड़ता है, अर्थात् विवाह कर लेना पड़ता है। तदनंतर कन्याग्रहण के बाद उसके लिए आवश्यक जेवर वगैरा बनवाने पड़ते हैं, एवं अर्थसंचय करना पड़ता है, एवं बाद में यह भावना होती है कि कुछ जमीन जायदाद स्थावर संपत्ति निर्माण करें। इस प्रकार इन तीनों बातों से, मनुष्य संसार बंधन में अच्छी तरह बंध जाता है।

यद्यपि हम लोगों ने कन्या का ग्रहण किया तो हमें सुवर्ण, संपत्ति राज्य आदि के लिए चिंता करने की जरूरत नहीं है। क्योंकि पिताजी के द्वारा अर्जित विपुल संपत्ति व अगणित राज्य मौजूद है। परन्तु उन सबसे आत्महित तो नहीं हो सकता है। यह सब अपने अधः पतन करने वाले भावपाश के रूप में है।

विपुल संपत्ति के होने पर उसका परित्याग करना यह बड़ी बात है। जवानी में दीक्षा लेना इसमें महत्व है एवं परमात्मतत्व को जानना यह जीवन का सार है। इन सबकी प्राप्ति होने पर हमसे बढ़कर श्रेष्ठ और कौन हो सकते हैं? कुल, बल, संपत्ति सौंदर्य इत्यादि के होते हुए, उन सबसे अपने होम को परित्याग कर तपश्चर्या के लिए इस कार्य को अर्पण करें तो रूपवती स्त्री के पतिव्रता होने के सामन विशिष्ट फलदायक है। क्योंकि संपत्ति आदि के होने पर उन से मोह का परित्याग करना इसी में विशेषता है।

स्त्रियों के पाश में जब तक यह मन नहीं फँसता है, तब तक उसमें एक विशिष्ट तेज रहता है। उस पाश में फँसने के बाद धीरे-धीरे दीपक की शोभा को देखकर फँसने वाले कीड़े के समान यह मनुष्य जीवन को खो देता है। हथिनी को देखकर जिस प्रकार हाथी फँसकर बड़े भारी खड्डे में पड़ता है एवं जीवनभर अदने स्वातंत्र्य को खो देता है, उसी प्रकार स्त्रियों को मोह में पड़कर भवसागर में फँसने वाले अविवेकी, आँखों के होने पर भी अंधे है।

मछली जिस प्रकार जरा से माँस खंड के लोभ में फँसकर अपने गले को ही अटका लेती है और अपने प्राणों को खोती है उसी प्रकार स्त्रियों के अल्पसुख के लोभ से जन्ममरण रूपी संसार में फँसना क्या यह बुद्धिमत्ता है?

पहिले तो स्त्रियों का संग ही भाररूप है। उससे भी यदि संतान की उत्पत्ति हो जाये तो वह घोरभार है। इस प्रकार वे कुमार विचार कर संसार के जंजाल से भयभीत हुए।

स्त्री तो पादकी श्रृंखला रूप है और उसमें संतानोत्पत्ति हो जाये तो गले की श्रृंखला है। इस प्रकार यह स्त्री पुत्रों का बंधन सचमुच में मजबूत बंधन है।

लोग बच्चों पर प्रेम करते हैं। गोद में बैठा लेते हैं। गोद में ही बच्चे टट्टी करते हैं, मल छोड़ते हैं, उस समय वह छी थू कहने लगता है, यह प्रेम एक भ्रातिरूप है।

प्रेम के वशीभूत होकर बच्चों के साथ बैठकर भोजन करते हैं। परन्तु वे बच्चे भोजन के समय ही पायखाना करते हैं। इतने में इसका प्रेम में भंग आता है। यह एक विचित्रता है।

स्त्रियों को कोई रोग आवे तो उनका शरीर दुर्गन्ध से भरा रहता है। तब पति अपने मुख को दुर्गन्ध के मारे इधर-उधर फिरा लेता है। परन्तु यह विचार नहीं करता है कि यह मोह ही मायाजाल स्वरूप है व्यर्थ ही वह ऐसे दुर्गन्धमय शरीर पर मुग्ध होता है।

स्त्रियाँ जब गर्भिणी हो जाती हैं, प्रसूत होती हैं एवं मासिकधर्म से बाहर बैठती हैं, तब उनके शरीर से शुक्ल, शोणित व दुर्मल का निर्गमन होता है। वह अत्यन्त घृणास्पद है। परन्तु ऐसे शरीर में भी भैसे जैसे कीचड़ में पड़ते हैं, उसी प्रकार अविवेकी जन सुख मानते हैं खेद है।

मूर्खोत्पत्ति के लिए स्थानभूत जघनस्थान के प्रति मोहित होकर मुक्ति को भूलकर यह अविवेकी जननिंद्य जीवन को धारण करते हैं, परन्तु हम सच्चरित्र होकर इसमें फँसे तो कितनी लज्जास्पद बात होगी? इस प्रकार उन कुमारों ने विचार किया।

सुख के लिए स्त्री और पुरुष दोनों एकांत में क्रीड़ा करते हैं। परन्तु गर्भ रहने के बाद यह बात छिपी नहीं रह सकती है। लोक में वह प्रकट हो जाती है। गर्भिणी का मुख म्लान हो जाता है, रोती हैं, कण्ठ उठाती है, प्रसववेदना से बढ़कर लोक में कोई दुःख नहीं है। सुख का फल जब दुःख है तो उस सुख के लिए धिक्कार हो।

एक बूँद के सामन सुख के लिए पर्वत के समान दुःख को भोगने के लिए यह मनुष्य तैयार होता है, आश्चर्य है। यदि दुःख के कारणभूत इन पंचेन्द्रिय विषयों का परित्याग करें तो सुख पर्वतप्राय हो जाता है, और संसार सागर बूँद के समान हो जाता है। परन्तु अविवेकी जन इस बात को विचार नहीं करते हैं।

स्वर्ग की देवांगनाओं के सुन्दर शरीर के संसर्ग से भी इस आत्मा को तृप्ति नहीं हुई। फिर इस दुर्गन्धमय शरीर को धारण करने वाली मानवी स्त्रियों के भोग से क्या तृप्त हो सकता है? असंभव है।

सुरलोक, नरलोक, नागलोक एवं तिरियंच लोक की स्त्रियों को अनेक बार भोगते हुए यह आत्मा भव में परिभ्रमण कर रहा है। फिर क्या उसकी तृप्ति हुई? नहीं। और न हो सकती है। जिनको प्यास लगी है वे यदि नमकीन पानी को पीवें तो जिस प्रकार उनकी प्यास बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार अपने कामविकार की तृप्ति के लिए यदि स्त्रियों को भोगे तो वह विकार और भी बढ़ता जाता है, तृप्ति होती नहीं। और स्त्रियों की आशा भी बढ़ती जाती है।

अग्नि पानी से बुझती है। परन्तु घी से बढ़ती है। इसी प्रकार कामाग्नि सच्चिदानंद आत्म रस से बुझती है, और स्त्रियों के संसर्ग से बढ़ती है। भोग के भोग से भोग की इच्छा बढ़ती है, यह नियम है। केवल कामाग्नि नहीं, पंचेन्द्रिय के नाम से प्रसिद्ध पंचाग्नि उनके लिए इष्ट पदार्थों के प्रदान करने पर बढ़ती हैं। परन्तु उनसे उपेक्षित होकर आत्माराम में मग्न होने पर वह पंचाग्नि अपने आप बुझती हैं।

स्नान, भोजन, गंध, पुष्प, भूषण, पान, गान, तांबूल, दुकूल (वस्त्र) इत्यादि आत्मा को तृप्त नहीं कर सकते हैं। आत्मा की तृप्ति आत्मध्यान से ही हो सकती है।

इसलिए आज अल्पसुख की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यदि संसार के मोह को छोड़कर ध्यान का अवलंबन करें तो वह ध्यान आगे जाकर अवश्य मुक्ति को प्रदान करेगा। इसलिए आज इधर-उधर के विचार को छोड़कर दीक्षा को ग्रहण करना चाहिए। इस बात को सुनते ही सब लोगों ने उसे हर्षपूर्वक समर्थन किया।

अपने सब कैलाश पर्वत पर चले, वहाँ पर मेरु पर्वत के समान उन्नतरूप में विराजमान भगवान् आदि प्रभु के चरणों में पहुँचकर दीक्षा लेवें।

इस वचन को सुनते ही सब कुमार आनंद से उठ खड़े हुए। उनमें कोई-कोई कहने लगे कि हम लोग पिताजी के पास पहुँचकर उनकी अनुमति लेकर दीक्षा लेने के लिए जायेंगे। उत्तर में कोई कहने लगे कि यदि पिता जी के पास पहुँचे तो दीक्षा के लिए अनुमति नहीं मिल सकती है। फिर वह कार्य नहीं बन सकता है।

और कोई कहने लगे कि पिताजी को एकबार समझाकर आ सकते हैं, परन्तु हमारी माताओं की अनुमति पाना असंभव है। इसलिए उनके पास जाना उचित नहीं है। हम हमारी माताओं के पास जाकर कहें कि दीक्षा के लिए अनुमति दीजिए, तो क्या वे सीधी तरह से यह कहेंगी कि बेटा ! जाओ, तुमने बहुत अच्छा विचार किया है ! यह कभी नहीं हो सकता है। उल्टा वे हमारे गले पड़ कर रोयेगी। फिर हमारा जाना मुश्किल हो जाएगा।

कोई कहने लगे कि हमें चिंता किस बात की है? क्या आभूषणों को ले जाकर उन्हें सौंपना है? या हमारे बाल बच्चों को सम्भालने के लिए उनको कहकर आना है अथवा हमारी स्त्रियों के संरक्षण के लिए कहकर आना है? फिर क्या है? उनकी हमें चिंता ही क्यों है? हमें यदि उनकी चिंता नहीं है तो उनको भी हमारी चिंता ही क्यों है? क्योंकि उनको हम सरीखे हजारों पुत्र हैं।

हमारी लिहाज या जरूरत उनको नहीं है। उनकी जरूरत हमें नहीं है। उनके लिए वे हैं, हमारे लिए हम। विचार करने पर इस भवमाला में कौन किसके साथ है? यह सब भ्रांति है।

पुत्र पिता होता है। पिता उसी जन्म में अपने पुत्र का ही पुत्र बनता है। पुत्री माता होती है। उसी प्रकार उसी जन्म में माता पुत्री की पुत्री बन जाती है। बड़ा भाई छोटा भाई बन जाता है। छोटा भी बड़ा होता है। स्त्री पुरुष होती है, पुरुष स्त्रीयोन में उत्पन्न होता है। यह सब कर्म चरित है।

शत्रु कभी मित्र बनता है। मित्र भी शत्रु बन जाता है। परिवर्तनशील इस संसार की स्थिति का क्या वर्णन करना। यहाँ पर सर्व व्यवस्था परिवर्तन रूप है। अनिश्चित है। इसलिए कौन किसका भरोसा करें।

कांता के गर्भ से आते हुए साथ में लाया हुआ यह कार्य भी हमसे भिन्न है, हमारा नहीं है, फिर माता पिताओं की बात ही क्या है? इसलिए विशेष विचार करने की जरूरत नहीं। "हंसनाथाय नमः स्वाहा" यह दीक्षा के लिए उचित समय है। अब अविलंब दीक्षा लेनी चाहिए। अपन सब लोग चले।

यदि नौकर लोग यहाँ से गये तो पिताजी से जाकर कहेंगे। एवं हमें दीक्षा के

लिए विघ्न उपस्थित होगा, इस विचार से उनको अनेक तंत्र उपायों से फंसाकर अपने साथ ही वे कुमार ले गये। उनको बीच में अनेक बातों में लगाकर इधर-उधर जाने नहीं देते थे।

वीर योद्धा युद्ध के लिए अनुमति पाने के हेतु जिस प्रकार अपने स्वामी के पास जाते हैं, उसी प्रकार "स्वामिन् । दीक्षा दो, हम लोग यम को मार भगायेंगे।" यह कहने के लिए अपने दादा के पास वे जा रहे थे।

स्वामिन् अरिकर्मों को हम जलायेंगे, मोक्ष रूपी किले को अपने वश में करेंगे, यह हमारी प्रतिज्ञा है, इसे आप लिख रखे यह कहने के लिए आदि प्रभु के पास वे जा रहे हैं।

वे जिस समय जा रहे थे मार्ग में अनेक नगरों में प्रजाजन पूछ रहे थे कि स्वामिन् कहाँ पधार रहे हैं? उत्तर में वे कुमार कहते हैं कि कैलासपर्वत पर आदि प्रभु के दर्शन के लिए जा रहे हैं। पुनः वे पूछते हैं कि चलते हुए क्यों जा रहे हैं। वाहनादि को ग्रहण कीजिए। उत्तर में वे कहते हैं कि भगवंत का दर्शन जब तक नहीं होता है तब तक मार्ग में हमारा नियम वैसा ही है। इसलिए वाहनादिक की जरूरत नहीं है।

इस समाचार को जानते ही प्रजानन आगे जाकर सर्व नगरवासियों को समाचार देते थे कि आज हमारे स्वामी के कुमार कैलासपर्वत के लिए जाते हैं। इस निमित्त उनका सर्वत्र स्वागत हो, और ग्राम नगरादिक की शोभा करें। इस प्रकार कैलासपर्वत के समीप पहुँचे।

भरतेश्वर के सुकुमारों की चित्तवृत्ति को देखकर पाठकों को आश्चर्य हुए बिना न रहेगा। इतने अल्पवय में भी इतने उच्चविचार, संसारभीरुता वैराग्यसंपन्नविवेक पुण्यपुरुषों को ही हो सकता है। काम क्रोधादिक विकारों से उत्पन्न होने के लिए जो साधकत्तम अवस्था है, उस समय आत्मानुभव करने योग्य शांतविचार का उत्पन्न होना बहुत ही कठिन है। ऐसे सुपुत्रों को पाने वाले भरतेश्वर धन्य है। यह तो उनके अनेक भवोपाजित सातिशय पुण्यका ही फल है कि उन्होंने ऐसे विवेकी ज्ञान— गुण संपन्न सुपुत्रों को पाया है, जिन्होंने बाल्यकाल में ही संसार के सार का अच्छी तरह ज्ञान कर लिया है। इसका एक मात्र कारण यह है कि भरतेश्वर सदा तद्रूप भावना करते हैं।

भरतजी के सौ कुमार आपस में प्रेम से बातचीत करते हुए भगवान् आदि प्रभु के दर्शन के लिए कैलासपर्वत की ओर जा रहे हैं। दूर से कैलास पर्वत की ओर जा रहे हैं। दूर से कैलास पर्वत को देखकर वे आनंदित हुए।

समवसरण से भेरी के शब्द को सुनते ही कुमार आनंद से नाचने लगे। जैसे कि

मेघ के शब्द से मयूर नृत्य करता है। विशेष क्या? उन राजपुत्रों ने समवसरण को प्रत्यक्ष देखा।

समवसरण के दिखने पर हाथ जोड़कर भक्ति से मस्तक पर चढ़ाया, व 'दुष्टं जिनेन्द्रभवनं' इत्यादि उच्चारण करते हुए एवं माणिक्यतीर्थनायक जय-जय आदि भगवंत की स्तुति करते हुए आगे बढ़े।

देवाधिदेव भगवान् आदि प्रभु ने उस रविकीर्तिराज को आत्मकल्याण के लिए जीवादि सप्ततत्त्वों का निरूपण किया। क्योंकि लोक में तीर्थकरों से अधिक उपकारक और कोई नहीं है।

हे भव्य रविकीर्ति! सुनो, अब सप्ततत्त्व के मूल, रहस्य आदि सबका वर्णन करेंगे, बाद में कर्मों को नाशकर कैवल्य को पाने के विधान को भी कहेंगे। अच्छी तरह सुनो। तत्त्व सात हैं, जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष। इस प्रकार सात तत्त्वों के स्वरूप को सुनो। जीव शुद्धात्मा कहलाते हैं। तीन शरीर से रहित जीव शुद्धात्मा कहलाते हैं। सिद्ध परमात्मा मुक्त हैं, उनको कोई शरीर भी नहीं है। सिद्ध, मुक्त, निर्देही इन सब शब्दों का एक ही अर्थ है संसारी, वृद्ध संदेही इन शब्दों का अर्थ एक ही है।

भगवान् आदि प्रभु ने उन कुमारों को पहले विश्व के समस्त तत्त्वों को समझाकर बाद में आत्मसिद्धि की परिज्ञान कराया। क्योंकि आत्मज्ञान ही लोक में सार है। हे भव्य! परमात्मसिद्धि की कला को सुनो। हमने जो अभी तक तत्त्वों का विवेचन किया है, उन तत्त्वों के प्रति यथार्थ श्रद्धान करते हुए जो उनको जानते हैं व यथार्थसंयम को धारण करते हैं उनको आत्मसिद्धि होती है।

श्रद्धान, ज्ञान व चरित्र को रत्नत्रय के नाम से भी कहते हैं। इन रत्नत्रयों को धरण करने से अवश्य आत्मकल्याण होता है उन रत्नत्रयों में भेद और अभेद इस प्रकार दो भेद हैं। कारण कार्य में विभिन्नता होने से ये दो भेद हो गये हैं। उन्हीं को व्यवहाररत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय के नाम से भी कहते हैं।

नवपदार्थ, सप्ततत्त्व, पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य इनको भिन्न-भिन्न रूप से जानकर अच्छी तरह श्रद्धान करना, एवं व्रतों को विकल्परूप से आचरण करना इसे भेदरत्नत्रय अथवा व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं।

परपदार्थों की चिंता को छोड़कर अपने आत्मा का ही श्रद्धान एवं उसी के स्वरूप का ज्ञान व मन को उसी में मग्न करना यह अभेदरत्नत्रय है एवं इसे निश्चयरत्नत्रय भी कहते हैं। आत्मा से भिन्न पदार्थों के अवलंबन से जो रत्नत्रय होता है उसे भेद रत्नत्रय

कहते हैं, अभेद रूप से अपने ही श्रद्धान, ज्ञान व ध्यान का अवलंबन यह अभिन रत्नत्रय अर्थात् अभेदरत्नत्रय है।

पहले व्यवहाररत्नत्रय के अवलंबन की आवश्यकता है। व्यवहार रत्नत्रय को धारण कर व्यवहारमार्ग के आचरण में निष्णात होने पर निश्चयार्थकों साधन करना चाहिए, जिससे निश्चल सिद्धि होती है।

हे रविकीर्ति ! व्यवहार मार्ग से निश्चयमार्ग की सिद्धि कर लेनी चाहिए और उस विशुद्ध निश्चयमार्ग से आत्मसिद्धि को साध लेनी चाहिए, यही आत्मकल्याण का राजमार्ग है। यह चित्त हवा के समान अत्यंत चंचल है, दुनिया में सर्वत्र वह विहार करता है। ऐसे चित्त को निरोध कर तत्व विचार में लगा लेना चाहिए, फिर उन तत्वों से फिराकर अपने आत्मा की ओर लगाना चाहिए।

मन को यथेच्छसंचार करने दिया जाये तो वह चाहे जिधर चला जाता है। यदि रोकें तो रुक भी जाता है। इसलिए ऐसे चंचल मन को तत्व विचार में लगाना एवं अपने में स्थिर करना यह विवेकियों का कर्तव्य है।

रविकीर्ति ! लोक में घोरतपश्चर्या करने से क्या प्रयोजन ? अनेक शास्त्रों के पढ़ने से क्या मतलब ? इस चपल चित्त को जब तक स्थिर नहीं करते हैं तब तक उस तपश्चर्या व शास्त्रपठन का कोई प्रयोजन नहीं है। जो व्यक्ति उस चंचलचित्त को रोक कर अपने आत्मविचार में लगाता है। वहीं वास्तव में तपस्वी है, एवं शास्त्र के ज्ञाता है।

मन के विकल्प, इंद्रियों के विषय कषायों को उत्पन्न करते हैं एवं स्वयं अलग होते हैं, इससे योगों के निमित्त से आत्मप्रदेश का परिस्पंद होता है। एवं आस्रव बंध होते हैं, इसलिए मन ही कर्मों के लिए घर है।

इस मन को आत्मा में न लगाकर पर पदार्थों में लगावें तो उससे कर्म बंध होता है, वह जिस प्रकार एक-एक पदार्थ का विचार करता है उसी प्रकार नवीन-नवीन कर्मों का बंध होता है। उसे रोककर आत्मा में लगाने पर कर्म की एकदम निर्जरा होती है।

इस दुष्ट मन के स्वेच्छविहार से कर्मबंध होता है। यह आत्मा आठकर्मों के जाल में फंसता है। उससे संसार की वृद्धि होती है। इसलिए उस दुष्ट मन को जीतना चाहिए।

चतुरंग के खेल में राजा को ही बांधने पर जिस प्रकार खेल खत्म हो जाता है उसी प्रकार इस संचरणशील मन को ही बांधने पर आस्रव नहीं, बंध नहीं, फिर अपने आप संवर और निर्जरा होती है।

भगवन् ! भरतचक्रवर्ति के पुत्रों के भव्य विनय का क्या वर्णन करूँ ? भगवंत के सुख से प्रत्यक्ष उपदेश को सुनने पर भी दीक्षा की याचना नहीं की। अपितु भगवंत की पूजा के लिए वे तैयार हुए।

यद्यपि वे विवेकी इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि भगवान् आदि प्रभु पूजा के भूखे नहीं हैं। तथापि मंगलार्थ उन्होंने पूजा की। अच्छे कार्य के प्रारंभ में पहले मंगलाचरण करना आवश्यक है। इस व्यवहार को एकदम नहीं छोड़ना चाहिए। इसी विचार से उन्होंने पूजा की।

कुछ मिनटों में ही स्नानकर पूजा के योग्य श्रृंगार से युक्त भये एवं पूजा सामग्री लेकर देवेन्द्र की अनुमति से पूजा करने लगे। कोई उनमें स्वयं पूजा कर रहे तो कोई पूजा में परिचारक वृत्ति का कार्य कर रहे हैं। अर्थात् सामग्री वगैरे तैयार कर दे रहे हैं। कोई उसी में अनुमोदना देकर आनंदित हो रहे हैं। उनकी भक्ति का क्या वर्णन करें ?

हे महादेव ! यह जगत् अत्यंत विशाल है। उस जगत् से भी विशाल आकाश है। उससे भी बढ़कर विशाल आपका ज्ञान है। आपकी स्तुति हम क्या कर सकते हैं ?

कल्पवृक्ष से प्राप्त दिव्यान्न के सुख से भी बढ़कर निरूपम निज सुख को अनुभव करने वाले आपको सामान्य वृक्ष के फल व भक्ष्यों को हम अर्पण कर प्रसन्न होते हैं। यहीं हम बालकों की चंचल भक्ति है।

स्वामिन् ! ध्यान में आत्मा के अंदर आपको लाकर भावशुद्धि के साथ ज्ञान पूजा जब तक हम नहीं कर सकते हैं, तब तक आपकी इन फलों से पूजा करेंगे।

पुनः पुनः साष्टांग नमस्कार करते हुए हाथ जोड़कर स्तुति करते हैं। भक्ति से हर्षित होते हुए भगवंत की प्रदक्षिणा दे रहे हैं।

हेमगिरी को प्रदक्षिणा देते हुए आने वाली सोमसूर्य की सेना के समान वे हेम वर्ण के कुमार भगवंत को प्रदक्षिणा दे रहे हैं, उनकी भक्ति का वर्णन क्या करना है ? भगवंत की शरीर कांति वहाँ पर सर्वत्र व्याप्त हो गई है। उस बीच में ये कुमार जा रहे थे। मालूम हो रहा था कि ये कांति के तीर्थ में ही जा रहे हैं।

अत्यंत ठण्डे धूप के मार्ग में चलने के समान तथा ठण्डे प्रकाश को धारण करने वाले दीपक के प्रकाश में चलने के समान वे कुमार वहाँ पर प्रदक्षिणा दे रहे हैं।

रत्नसुवर्ण के द्वारा निर्मित गंधकुटि में रत्नागर्भ वे कुमार जिनरत्नों के बीच रत्नदीप के समान जा रहे हैं, उस शोभा का क्या वर्णन करें ?

जिनेंद्रभगवंत के सिंहासन के चारों ओर विराजमान हजारों केवलियों की वंदना करते हुए वे विनयरत्नकुमार रविकीर्तिराज को आगे रखकर जा रहे हैं, उनकी भक्ति का क्या वर्णन करें ?

उन केवलियों में अनेक केवली रविकीर्तिराज के पूर्वपरिचय थे। इसलिए अपने भाइयों को भी परिचय देने के उद्देश्य से रविकीर्तिकुमार ने उनको इस क्रम से नमोस्तु किया।

उन महायोगियों के बीच सबसे एक योगिराज को रविकीर्तिराज ने देखा, जो कि अपनी कांति से सूर्यचन्द्र को भी तिरस्कृत कर रहे हैं। उनको देखकर कुमार ने कहा कि मैं स्वामी अकंपकेवलों को नमस्कार करता हूँ, सभी भाई उसी समय समझ गये कि यह वाराणसी राज्य के अधिपति राजा अकंप है। उन्होंने राज्य वैभव को त्यागकर तपश्चर्या की, व केवल ज्ञान को प्राप्त किया। साथ में सबने अकंपकेवली की वंदना की।

रविकीर्ति कुमार ने कहा कि सोमप्रभ जिन जयवन्त रहे। श्रेयांस स्वामी को नमोस्तु ! इस वचन से वे सब कुमार इन केवलियों से परिचित हुए। हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ व श्रेयांस सहोदर हैं। उन्होंने अपनी सर्व राज्य सम्पत्ति के मेघेश्वर के (जय कुमार) हवालाकर दीक्षा ली एवं आज इस वैभव को प्राप्त किया।

आगे बढ़ने पर और भी अनेक केवली मिलें, जिनमें इन कुमारों के कई काका भी थे जो भरतेश के सहोदर हैं। परन्तु हम भरतचक्रवर्ति को नमस्कार नहीं करेंगे, इस विचार से अपने-अपने राज्य को छोड़कर दीक्षित हुए। ऐसे सौ राजा हैं। उनमें से कईयों को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। उन केवलियों की उन्होंने भक्ति से वंदना की। और मन में विचार करते हुए आगे बढ़े कि जब हमारे इस पितृसमुदाय ने दीक्षा लेकर कर्मनाश किया तो क्या हमारा कर्तव्य नहीं है कि हम भी उनके समान ही हों ?

अंदर के लक्ष्मीमंडप में आनंद के साथ तीन प्रदक्षिणा देकर बाहर के लक्ष्मी मंडप में आए। वहाँ पर 12 सभाओं की व्यवस्था है वहाँ पर सबसे पहली सभा आचार्यसभा कहलाती है। वे कुमार बहुत आनंद के साथ उस सभा में प्रविष्ट हुए। उस ऋषिकोष्ठक में हजारों मुनिजन हैं। तथापि उनमें 84 मुख्य हैं, वे गणनायक कहलाते हैं उनमें भी मुख्य वृषभसेन नामक गणधर थे, उनको कुमारों ने बहुत शक्ति के साथ नमस्कार किया। सार्वभौम चक्रवर्ति भरत के तो वो छोटे भाई हैं, परन्तु शेष सौ अनुजों के लिए तो बड़े भाई हैं और सर्वज्ञ भगवान् आदि प्रभु के वे प्रधानमंत्री हैं, ऐसे अपूर्वयोगी वृषभसेन गणधर को उन्होंने भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। वहाँ पर उपस्थित

गणधरों को क्रम से नमस्कार करते हुए वे कुमार आगे बढ़े। इतने में वहाँ पर उन्होंने अनेक तत्त्वचर्चा में चित्त विशुद्धि करने वाले 21वें गणधर को देखा। उनके समाने वे कुमार खड़े होकर कहने लगे कि हे मेघेश्वर योगि। आप विचित्र महापुरुष हैं, आप जयवंत रहें। इसी प्रकार विजय, जयंतयोगी जो मेघेश्वर (जयकुमार) के सहोदर हैं, की भी भक्ति से वंदना की, और कहने लगे कि दीक्षा कार्य का दिग्विजय हमें हो गया। अब हमारा निश्चय हो गया है। उस समय वे कुमार आनंद से फूले न समा रहे थे।

मुनि समुदाय की वंदना कर वे कुमार अनिमिषराज देवेन्द्र के पास आए और बहुत विनय के साथ उन्होंने अपने अनुभव को देवेन्द्र से व्यक्त किया। देवराज ! हमारे निवेदन को सुनो, उन कुमारों ने प्रार्थना की "आप अपने स्वामी से निवेदन कर हमें दीक्षा दिलावे, इससे तुम्हें सातिशय पुण्य मिलेगा। वह पुण्य आगे तुम्हें मुक्ति दिला देगा, हम लोगों में भगवंत का कभी दर्शन नहीं किया, उनसे दीक्षा के लिए विनती करने का क्रम भी हमें मालूम नहीं है। इसलिए हे ऊर्ध्वलोक के अधिपति ! मौन से देखते हुए हम क्यों खड़े हो। चलो, प्रभुजी को कहो"। तब देवेन्द्र ने उत्तर दिया कि कुमार। आप लोगों का अनुभव, विचार, परमात्मा के ज्ञान को भरपूर व्यक्त कर रहा है इसलिए मुझे आप लोग क्यों पूछ रहे हैं, आप लोग जो भी करेंगे उसमें मेरी सन्मति है। जाईयेगा। तदनंतर वे कुमार वहाँ से आगे बढ़े, और गणधरों के अधिपति वृषभ से नाचार्य को पुनश्च वंदनाकर कहने लगे कि मुनिनाथ ! कृपया जिननाथ से हमें दीक्षा दिलाइये तब वृषभसेन स्वामी ने कहा कि कुमार ! आप लोगों का पुण्य ही आप लोगों के साथ में आकर दीक्षा दिला रहा है। फिर आप लोग इधर-उधर की अपेक्षा क्यों करते हैं ? जावों, आप लोगों स्वयं त्रिलोकपति से दीक्षा की याचना करना वे बराबर दीक्षा देंगे। साथ में यह ली कहा कि हमारी अनुमति है, वही यहाँ द्वादशगण को भी सन्मत्त है, लोक के लिए पुण्यकारण है, आप लोग जावो, अपना काम करो। इस प्रकार कहकर गणनायक वृषभ सेनाचार्य ने उनको आगे रवाना किया। गण की अनुमति से आगे बढ़कर वे भगवान् आदि प्रभु के सामने खड़े हुए व करबद्ध होकर विनय से प्रार्थना करने लगे हे फणि सुरनर लोकगचि के एवं विश्व के समस्त जीवों को रक्षण करने वाले हे प्रभो ! हमारे निवेदन की ओर अनुग्रह कीजिए।

भगवान् ! अनादिकाल से इस भयंकर भवसागर में फिरते-फिरते थक गये हैं। हैरान हो गये। अब हमारे कष्टों को अर्ज करने के लिए आप दयानिधि के पास आये हैं। स्वामिन् ! आपके दर्शन के पहले हम बहुत दुःखी थे। परन्तु आपके दर्शन होने के बाद हमें कोई दुःख नहीं रहा इस बात को हम अच्छी तरह जानते हैं। इसलिए हमारी प्रार्थना को अवश्य सुनने की कृपा करें।

भगवान् ! काल को भगाकर, काम को लात मारकर, दुष्कर्म जाल को नष्ट कर, हम मुक्ति राज्य की ओर जाना चाहते हैं। इसलिए हमें जिन दीक्षा को प्रदान करें। दीक्षा देने पर मन को दंडित कर आत्मा में रखेंगे एवं ध्यान दण्ड से कर्मों को खंड-खंड कर दिखायेंगे आप देखिये तो सही अर्हण ! हम गरीब व छोटे जरूर हैं, परन्तु आपकी दीक्षा को हस्तगत करने के बाद हमारे बराबरी करने वाले लोक में कौन है ? उसे बातों से क्यों बताना चाहिए। आप दीक्षा दीजिए, तदनंतर देखिए हम क्या करते हैं ?

प्रभो ! इस आत्मप्रदेश में व्याप्त कर्मों को जलाकर कोटि सूर्यचन्द्रों के प्रकाश को पाकर यदि आपके समान लोक में हम लोकपूजित न बने तो आपके पुत्र के पुत्र हम कैसे कहला सकते हैं ? जरा देखिये तो सही।

हमारे पिताजी छह खंड के विजयी हुए। हमारे दादा (आदि प्रभु) त्रेसठ कर्मों के विजयी हुए। फिर हमें तीन लोक के कर्म की क्या परवाह है। आप दीक्षा दीजिए, फिर देखिए। भगवान् मोक्ष के लिए ध्यान की परम आवश्यकता है। ध्यान के लिए जिनदीक्षा ही बाह्य साधन है। इसलिए "स्वामिन् ! दीक्षा देहि ! दीक्षा देहि !" इस प्रकार कहते हुए सबने साष्टांग नमस्कार किया।

भक्ति से बद्ध दीर्घबाहु, विस्तारित पाद, भूमि को स्पर्श करते हुए ललाट प्रदेश, एकाग्रता से जगदीश के समाने पड़े हुए वे कुमार उस समय सोने की पुतली के समान मालूम होते थे।

"अस्तु भय्याः समुतिष्ठत" आदि प्रभु ने निरूपण किया। तब वे कुमार उठकर खड़े हुए। वहाँ उपस्थित असंख्य देखगण जयजयकार करते लगे। देवदुंदुभि बजने लगी। देवांगनायें मंगलगान करने लगी। समय को जानकर वृषभसेनयोगी व देवेन्द्र वहाँ पर उपस्थित हुए नील रत्न की फरसी के ऊपर मोती की अक्षताओं से निर्मित स्वास्तिक के ऊपर उन सौ कुमारों को पूर्व व उत्तर मुख से बैठा दिया, वे बहुत आतुरता के साथ वहाँ बैठ गये। उनके हाथ में रत्नत्रययंत्र को स्वास्तिक के ऊपर रखकर उसके ऊपर पुण्यफलाक्षतादि मंगलद्रव्यों को विन्यस्त किया, इतने में हल्ला गुल्ला बंद हो गया, अब दीक्षा विधि होने वाली है। वे सुकुमार भगवान् के प्रति ही बहुत भक्ति से देख रहे थे। इतने में मेघपटल से जिस प्रकार जल बरसता है उसी प्रकार भगवंत के मुख कमल से दिव्यध्वनिका उदय हुआ।

वे कुमार भव के मूल, भवनाश के मूल कारण एवं मोक्ष सिद्धि के साध्यसाधन को कान देकर सुन रहे थे, भगवान् विस्तार से निरूपण कर रहे थे, हे भण्य ! मोक्ष मार्ग

संधि में विस्तार से जिसका कथन किया जा चुका है, वही मोक्ष का उपाय है। परिग्रह का सर्वथा त्याग करना ही जिनदीक्षा है। बाह्य परिग्रह दस प्रकार के हैं। अंतरंग परिग्रह चौदह प्रकार के हैं ये चौबीस परिग्रह आत्मा के साथ लगे हुए हैं। इन चौबीस परिग्रहों का परित्याग करना ही जिनदीक्षा है। क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, दासी, दास, पशु, वस्त्र, बर्तन, इन बाह्य परिग्रहों से मोह का त्याग करना चाहिए। इसी प्रकार रागद्वेष मोह हास्यादिक चौदह अंतरंग परिग्रहों का भी त्याग करना चाहिए जो अत्यंत दरिद्र हैं। उनके पास बाह्य परिग्रह कुछ भी नहीं रहते हैं, तथापि अंतरंग परिग्रहों के त्याग करने पर कर्म भी आत्मा का त्याग करता है इसलिए बाह्य परिग्रहकर त्याग ही त्याग है, ऐसा न समझना चाहिए। बाह्य परिग्रह के त्याग से जो आत्मविशुद्धि होती है, उसके बल से अंतरंग मोहरगादिक का परित्याग करें जिससे ध्यान की व सुख की सिद्धि होती है।

इस आत्मा से शरीर की भिन्नता है। इस बात को दृढ़ करने के लिए मुनि को केशलोच व इन्द्रियों के दमन के लिए एक भक्ति की आवश्यकता है। शरीरशुद्धि के लिए कमंडलु व जीव रक्षा के लिए पिंछकी की आवश्यकता है एवं अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए आचार सूत्र की आवश्यकता है। यह योगियों के उपकरण हैं।

शास्त्रों में वर्णित मूलगुण, उत्तरगुणादि ध्यान के लिए बाह्य सहकारी हैं। यह सब ध्यान की सिद्धि के लिए आवश्यक है।

इस प्रकार गंभीर निनाद से निरूपण करते हुए भगवंत ने यह भी कहा कि अब अधिक उपदेश की जरूरत नहीं है। अब अपने शरीर के अलंकारों का परित्याग कीजिए। राजवेष को छोड़कर तापसी वेष को ग्रहण कीजिए।

सर्व पुत्रों ने 'इच्छामि, इच्छामि,' कहते हुए हाथ के फलाक्षत को भगवंत के पादमूल में अर्पण करने के लिए पास में खड़े हुए देवों के हाथ में दे दिया। अपने शरीर के वस्त्र को उन्होंने उतार कर फेंका। इसी प्रकार कठंहार, कर्णाभरण, सुवर्ण-मुद्रिका, कटीसूत्र, रत्नमुद्रिका आदि सर्वाभरणों को उतार दिया। तिलक, यज्ञोपवीत, आदि का भी त्याग किया। यह विचार करते हुए कि हम कौन हैं, यह शरीर कौन है ? अपने केशपाश को अपने हाथ से लुंछन करते वहाँ रखने लगे। वे केशपाश को संक्लेशपाश, दुर्मोहपाश, आशापाश व मायापाश के समान फाड़ने लगे। विशेष क्या ? जन्म के समय के, समान वे जातरूपधरकर बने शरीर का आवरण दूर होते ही शरीर में नवीन कांति उत्पन्न हो गई। जिस प्रकार कि मणिक को जलाने पर उसमें रंग चढ़ता है।

कांति व शांति दोनों में वे कुमार जातरूपधर बने कांति अब तो पहले से बहुत बढ़ गई है। वे बहुत ही भाग्यशाली हैं।

भगवान् आदि प्रभु दीक्षा गुरु हैं। कैलास पर्वत दीक्षा क्षेत्र है देवेन्द्र वे गणधर दीक्षा कार्य में सहायक हैं। ऐसा वैभव लोक में किसे प्राप्त हो सकता है ?

स्वस्तिक के ऊपर से उठकर सभी कुमार आदि प्रभु के चरणों में पहुँचे व भक्ति से नमस्कार करने लगे, तब वीतरागने आशिर्वाद दिया कि 'आत्मसिद्धिरेवास्तु'। इस समय देव गण आकाश प्रदेश में खड़े होकर पुष्यवृष्टि करने लगे एवं जयजयकार करने लगे। इसी समय करोड़ों बाजे बजने लगे एवं मंगलगान करने लगे। वृषभसेन गमधर ने उपकरणों को वृषभनाथ स्वामी के सामने रखा तो नूतन ऋषियों ने वृषभनाथाय नमः स्वाहा करते हुए ग्रहण किया। उनके हाथ में पिछ तो बिजली के गुच्छे के समान मालूम हो रहे थे। इसी प्रकार स्फटिक के द्वारा निर्मित कमंडलु को भी उन्होंने ग्रहण किया एवं बालवय के वे सौ मुनि वहाँ से आगे बढ़े। वृषभसेनाचार्य के साथ वे जब आगे बढ़ रहे थे, तब वहाँ सभी जयजयकार करने लगे। मालूम हो रहा था कि समुद्र ही उमड़कर घोषित कर रहा हो।

'रविकार्ति योगी आवो, गजसिंहयोगी आवो, दिविजेंद्रयोगी आवो, इस प्रकार कहते हुए योगिजन उनको अपनी सभा में बुला रहे थे। उन्होंने भी उनके बीच में आसन ग्रहण किया। देवेन्द्र शची महादेवी के साथ आये व उन्होंने उन नूतन योगियों को बहुत भक्ति के साथ नमस्कार किया। उन योगियों ने भी 'धर्म वृद्धिरस्तु' कहा। देवेन्द्र भी मन में यह कहते हुए गया कि स्वामिन् ! आप लोगों के आशीर्वाद से वृद्धि में कोई अंतर नहीं होगा। अवश्य इसकी सिद्धि होगी। इसी प्रकार यक्ष, सुर, गरुड़, गंधर्व, नक्षत्र, देव, मनुष्य आदि सबने आकर उन योगियों को नमस्कार किया।

मुनि कुमारों ने जिन वस्त्राधारण केश आदि का परित्याग किया था। उसको देवगणों ने बहुत वैभव के साथ समुद्र में पहुँचाया जाते समय उनके वैराग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा हो रही थी।

बाल्यकाल में सौंदर्ययुक्त शरीर को पाकर एकदम मोह का परित्याग करने वाले कौन हैं ? इस प्रकार जगह जगह खड़े हुए देवगण प्रशंसा कर रहे थे।

हजार सुवर्णमुद्रा मिली तो बस, खर्चकर खाकर मरते हैं, परन्तु संसार नहीं छोड़ते हैं। भूवल्य को एक छत्राधिपत्य से पालने वाले सम्राट के पुत्र इस प्रकार परिग्रहों का परित्याग करें, यह क्या कम बात है ?

मूछे सफेद हो जाये तो उसे कल्प वगैरे लगाकर पुनः काले दिखाने का लोगों

को शौक रहता है। परन्तु अच्छी तरह मूछ आने के पहले ही संसार को छोड़ने वाले अतिथि इन कुमारों के समान दूसरे कौन हो सकते हैं।

दाँत न हो तो तांबूल को खलबत्ते में कूटकर तो जरूर खाते हैं। परन्तु छोड़ते नहीं हैं। इन कुमारों ने इस बाल्य अवस्था में संसार का परित्याग किया। आश्चर्य है !

अपने विकृत शरीर को तेल, साबुन, अत्तर वगैरे से मलकर सुंदर बनाने के लिए प्रयत्न करने वाले लोक में बहुत है।

परन्तु सातिशय सौंदर्य को धारण करने वाले शरीर को तप को प्रदान करने वाले इन कुमारों के समान लोक में कितने हैं ?

काले शरीर को पाऊंडर मलकर सफेद करने के लिए प्रयत्न करने वाले लोक में बहुत है। परन्तु पुरुष भी मोहित हों ऐसे शरीर को धारण करने वाले इन कुमारों के समान दीक्षा लेने वाले कौन हैं ?

भरत चक्रवर्ति की सेवा करने का भाग्य मिले तो उससे बढ़कर दूसरा पुण्य नहीं है ऐसा समझने वाले लोक में बहुत हैं, परन्तु खास भरतचक्रवर्ति के पुत्र होकर संपत्ति से तिरस्कार करें, यह आश्चर्य की बात है।

इन कुमारों की दीक्षा प्राप्ति में क्या कठिनता है ? यह जरूर जल्दी ही मोक्षधाम में पधारेंगे इत्यादि प्रकार से वहाँ पर देवगण उन कुमारों के प्रशंसा कर रहे थे, ये दीक्षित कुमार आत्मयोग में मग्न थे।

(भरतेश-वैभव - चतुर्थ भाग पृ० 18)



मुद्रक : प्रैसीडेंट प्रेस, 90 विवेकानन्द पथ, मेरठ कैंण्ट ।

दूरभाष : 76708, 73143